हिन्दी
प्रथमावृत्ति : १०,०००
१ जनवरी, १९८० ई०

द्वितीयावृत्ति : १२,०००
१ अगस्त, १९८० ई०

गुजराती
प्रथमावृत्ति : ८०००
१६ अप्रेल, १९८० ई०

मूल्य :
साधारण : दो रुपये पचास पैसे
सजिल्द : तीन रुपये पचास पैसे
सजिल्द, प्लास्टिक कवर सहित : चार रुपये पचास पैसे

प्राप्ति-स्थान :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ ३६४२५० (जिला भावनगर – गुजरात)

पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४ (राजस्थान)

विषय-सूची

मुद्रक :
जयपुर प्रिण्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर

श्रद्धाञ्जलि



स्व० श्री जुगराज दलीचंदजी जैन

जन्म : सन् १९०३ — निधन : दि० १३-८-७६

जन्म-स्थान : वगड़ीनगर — निधन-स्थान : बम्बई

पूज्यश्री, आपने परमपूज्य आत्मानुभवी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के सदुपदेशों से प्रभावित होकर सत्यपथ दिगम्बर धर्म स्वीकार कर और उसमें ही अपना जीवन समर्पित कर अपना तो अनंत उपकार किया ही, हम कुटुम्बीजनों को भी सन्मार्ग पर लगाया और निरन्तर आत्महित की ओर प्रेरित किया है।

हमें ही नहीं, और भी अनेकों को सन्मार्ग में लगाने का श्रेय आपको है। आप अपनी ओर से फतेपुर पंचकल्याणक एवं अनेक शिविरों में सैकड़ों लोगों को ले गये। आपने बैंगलोर में दिगम्बर जिनमंदिर का निर्माण कराया, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराई और गुरुदेवश्री को भी वहाँ ले गये।

आपकी पावन स्मृति में सर्वज्ञ-स्वभाव की दुंदुभि बजाने वाली यह कृति जन-जन तक पहुँचाकर हम भावना भाते हैं कि आप शीघ्रातिशीघ्र निजपद प्राप्त करें।

हम हैं आपके स्व-स्नेहीजन

पानीबाई, गुणवन्तीबाई — संपतराज, मीठालाल

जयवन्तीबाई — ज्ञानचंद, प्रकाशचंद

प्रकाशकीय

[प्रथमावृत्ति]

जिनागम के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक सिद्धान्त 'क्रमबद्धपर्याय' पर गम्भीर विवेचन के रूप में प्रस्तुत प्रकाशन समाज के कर-कमलों में समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

'क्रमबद्धपर्याय' सम्पूर्ण जिनागम में तो चर्चित है ही, किन्तु विगत अनेक वर्षों से तत्त्वप्रेमी समाज में भी चर्चा का विषय बनी हुई है। इसका श्रेय आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी को है, जिन्होंने इस युग में श्रुतसमुद्र का मंथन करके क्रमबद्धपर्याय जैसे अनेक रत्न तो समाज को दिए ही हैं; साथ ही निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, आदि अनेक विषयों पर आगमसम्मत एवं युक्ति और अनुभव की कसौटी पर खरा उतरने वाला विवेचन प्रस्तुत करके समाज में एक अभूतपूर्व आध्यात्मिक क्रान्ति का शंखनाद किया है।

यहाँ यह विचारणीय है कि आखिर यह 'क्रमबद्धपर्याय' क्या चीज है? तथा इसे समझने की क्या आवश्यकता है?

क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझने की आवश्यकता तो उसका स्वरूप समझने से ही समझी जा सकती है। जगत की प्रत्येक सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय नवीन पर्याय का उत्पाद और वर्तमान पर्याय का व्यय होता रहता है तथा द्रव्य अपने स्वरूप में कायम रहता है।

वस्तु के इस परिणमनस्वभाव के बारे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस परिणमन का कोई स्वभावगत नियम है या हम उसमें चाहें जब चाहें जैसा परिणमन कर सकते हैं?

'क्रमबद्धपर्याय' इसी प्रश्न का एकमात्र समाधान है; और वह यह कि प्रत्येक वस्तु एक निश्चितक्रमानुसार ही परिणमित होती है। किस वस्तु में, किस समय, कौनसी पर्याय उत्पन्न होगी – यह निश्चित ही है। अतः 'क्रमबद्धपर्याय' वस्तु के परिणमन की व्यवस्था है। प्रति समय की योग्यतानुसार निश्चित क्रम में परिणमन होने का नियम ही क्रमबद्धपर्याय है।

इस सन्दर्भ में यह जिज्ञासा सहज होती है कि वस्तु में होने वाले परिणमन के क्रम का निर्धारण कौन करता है? हमें तो अपनी इच्छा एवं प्रयत्नानुसार वस्तु का परिणमन दिख रहा है, इसलिए यह कैसे माना जाए कि वस्तु में इस समय जो पर्याय उत्पन्न हुई है, उसका इसी समय उत्पन्न होना पहले से निश्चित था?

वस्तु के क्रमबद्ध परिणमन के विषय में उठने वाली इस जिज्ञासा के समाधान के लिए सर्वज्ञता का आधार लेना अपरिहार्य हो जाता है। निश्चित क्रमानुसार परिणमन किसने देखा ? इसका एकमात्र समाधान यही है– सर्वज्ञ ने देखा; क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्येक वस्तु की भूत-भविष्य-वर्त्तमान की समस्त पर्यायें वर्त्तमानवत् ज्ञात होती हैं तथा वस्तु का परिणमन सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात क्रमानुसार ही होता है, अन्यथा सर्वज्ञ का ज्ञान सम्यक् ही न ठहरेगा।

सर्वज्ञता के दर्पण में वस्तु के परिणमन की क्रमबद्ध व्यवस्था को सहज जाना जा सकता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सर्वज्ञ का ज्ञान वस्तु के परिणमन का क्रम निश्चित करने वाला नहीं है; निश्चितक्रमानुसार परिणमन तो वस्तु का स्वभाव ही है। केवलज्ञान तो मात्र उस क्रम का ज्ञाता है, जिस क्रम से वस्तु परिणमित होती है।

सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात क्रमानुसार परिणमन करने से वस्तु केवलज्ञान के आधीन नहीं हो जाती; वह तो अपनी स्वाधीन योग्यतानुसार ही परिणमित होती है। केवलज्ञान में तो वह अपने प्रमेयत्व गुण के कारण सहज ज्ञात होती है। इसप्रकार सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय में कारण-कार्य सम्बन्ध न होकर द्योतक-द्योत्य सम्बन्ध है। सर्वज्ञता क्रमबद्ध-परिणमन की ज्ञापक है, कारक नहीं।

समाज के लोकप्रिय प्रवचनकार एवं गूढ़चिन्तक डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल अपने प्रवचनों में प्राय: इस विषय पर विवेचन किया करते थे, जिसे सुनकर मुझे यह महसूस होता था कि एक घंटे के प्रवचन में सभी पहलुओं से विषय स्पष्ट नहीं हो पाता तथा लिखित रूप में न होने से जितना स्पष्टीकरण होता है, वह भी स्थाई नहीं रह पाता। एतदर्थ मैंने अनेक बार उनसे अनुरोध किया कि इस विषय से सम्बन्धित पहलुओं को लिपिबद्ध कर दिया जाए तो जनसाधारण भी इस विषय को सरलता से हृदयंगम कर सके।

डॉक्टर साहब का जीवन भी 'क्रमबद्धपर्याय' का स्वरूप समझने से ही बदला है, जिसे उन्होंने 'अपनी बात' में स्पष्ट किया है। मेरे अनुरोध को स्वीकार करके उन्होंने इस विषय पर ५ जनवरी, १९७९ से लिखना प्रारम्भ किया और फरवरी, १९७९ से आत्मधर्म में सम्पादकीय के रूप में यह लेखमाला प्रारम्भ हुई। ९ दिसम्बर, १९७९ को प्रस्तुत कृति सम्पूर्ण हुई जो अब इस पुस्तक के रूप में जैन साहित्य की अमूल्य निधि बनने जा रही है।

क्रमबद्धपर्याय को समझने में एकान्त नियतवाद एवं पुरुषार्थहीनता का भय सर्वाधिक बाधक तत्त्व है। एकान्त नियतवाद के भय से आक्रान्त लोग

कहते हैं – यदि सब-कुछ निश्चित मान लिया जाए तो लोक में कोई व्यवस्था ही नहीं रह जाएगी। फिर अपराधी को दण्ड क्यों दिया जाए ? क्योंकि उस समय उससे अपराध होना ही था इसलिए हुआ, इसमें अपराधी का क्या दोष ?

इसप्रकार कुछ लोगों को व्यवस्थित परिणमन स्वीकार करने में अव्यवस्था नजर आती है। परन्तु यदि समग्र परिणमन-व्यवस्था पर गम्भीरता से विचार किया जाए तो कोई अव्यवस्था नहीं, वल्कि सुन्दरतम व्यवस्था ख्याल में आएगी।

यदि अपराधी के क्रम में अपराध होना निश्चित है तो उसका दण्ड भोगना भी तो निश्चित ही है ? अज्ञानी 'ऐसा ही होना था' की आड़ में अपराध करने की खुली छूट चाहे, परन्तु दण्ड मिलते समय 'दण्ड मिलना ही था' यह स्वीकार न करे तो इससे उसके क्रम में होने वाला दण्ड रुक नहीं जाएगा। यदि किसी के परिणमन में हिंसादि पाप निश्चित हैं, तो उनके फल में उसका नरकादि में जाना भी निश्चित ही है।

अपराध करने के लिए तो यह अपराध का निश्चित क्रम स्वीकार कर लेता है, परन्तु दण्ड का निश्चित क्रम स्वीकार नहीं करता। पर जव मोक्ष का पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी जाए तो कहता है कि जब मोक्ष होना निश्चित ही है तो मैं पुरुषार्थ क्यों करूँ ? वह तो हो ही जाएगा। मोक्ष को निश्चित मानने में उसे मोक्ष का पुरुषार्थ निरर्थक नजर आता है, इसलिए क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार करने में पुरुषार्थ उड़ जाने के भय से ग्रस्त रहता है।

वास्तव में देखा जाए तो वीर्य गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने समय में – पुरुषार्थपूर्वक ही होती है। इसलिए कोई भी आत्मा कभी भी पुरुषार्थरहित हो ही नहीं सकता।

शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे गए हैं। प्रत्येक जीव के वीर्य का स्फुरण इन चार रूपों में ही होता है। अज्ञानी जीव पञ्चेन्द्रिय-विषयों में सुखवुद्धि होने से पर के कर्त्तृत्व के अहंकार से दग्ध रहता हुआ, निरन्तर अर्थ एवं काम पुरुषार्थ में रत रहता है तथा वही जीव ज्ञानी होता हुआ वस्तु की स्वतन्त्र परिणमन व्यवस्था को समझकर पर में कर्त्तृत्व के अहंकार की आकुलता से मुक्त होकर धर्म-पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष-पुरुषार्थ के सम्मुख होता है।

अज्ञानी ने किसी कार्य विशेष को उत्पन्न करने में नाना संकल्प-विकल्प करना ही पुरुषार्थ समझ लिया है, जोकि वास्तव में मिथ्यात्व ही है। और

क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझने से इस मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है, जिसे अज्ञानी पुरुषार्थ का अभाव मान बैठता है।

विद्वान लेखक ने अपने मौलिक चिन्तन की प्रतिभा से जिनागम के आधारपूर्वक एकान्त नियतवाद एवं पुरुषार्थहीनता के भय का युक्तिसंगत निराकरण करते हुए स्पष्ट किया है कि क्रमबद्ध परिणमन का अर्थ मात्र काल की नियति ही नहीं; अपितु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अथवा स्वभाव, पुरुषार्थ, काललब्धि, भवितव्य (होनहार) एवं निमित्त सभी के निश्चित होने का नियम है।

पाँच समवायों में काललब्धि को मुख्य करके तथा अन्य समवायों को गौण करके कारण-कार्य मीमाँसा करने से सम्यक् एकान्त होता है तथा अन्य समवायों का अभाव मानने से ही एकान्त नियतिवाद का प्रसंग आता है जो मिथ्या होने से किसी भी विचारक को इष्ट नहीं है।

क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझने से सहज ही ज्ञात हो जाता है कि मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिए इसे समझना कितना आवश्यक है? जिनागम का तलस्पर्शी अवगाहन करने से ज्ञात होगा कि क्रमबद्धपर्याय, सम्यग्दर्शन, स्वकर्तृत्व, सहजकर्तृत्व, सम्यक्पुरुषार्थ आदि सभी तथ्य आत्मानुभूति की प्रक्रिया से सहज गुंथे हुए हैं।

आत्मानुभूति प्रगट करने हेतु निज त्रैकालिक ज्ञायकस्वभाव में तन्मय होना अनिवार्य है और क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझकर और कर्तृत्वबुद्धि के अभावपूर्वक ही ज्ञायकभाव में तन्मय हुआ जा सकता है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार गाथा ३०८-११ की आत्मख्याति टीका में क्रमबद्धपरिणमन द्वारा ही अकर्त्ता-स्वभाव की सिद्धि की है, जिसे लेखक ने पुस्तक के प्रारम्भ में ही उठाया है तथा प्रश्नोत्तर खण्ड में विशेष स्पष्ट किया है।

इस विषय की गम्भीरता एवं महत्त्व को देखते हुए इस बात की महती आवश्यकता थी कि जिनागम में उपलब्ध वस्तु के क्रमबद्ध परिणमन की व्यवस्था के आधार पर सम्यग्पुरुषार्थ से सुमेल बिठाते हुऐ इस पर युक्तिसंगत विवेचन प्रस्तुत किया जाए।

इसमें सन्देह नहीं है कि प्रस्तुत कृति उपर्युक्त आवश्यकता की पूर्ति में पूर्णतः सफल हुई है। इसमें विषय को जिस जिज्ञासोत्पादक ढंग से उठाते हुए सुव्यवस्थित शैली एवं सरल भाषा में सर्वाङ्गीण अनुशीलन किया गया है, उसका लाभ तो पाठक इसका गम्भीर अध्ययन-मनन द्वारा ही उठा सकते हैं।

गम्भीर अनुशीलन के बाद विविध प्रश्नोत्तरों द्वारा तो विषय को और भी स्पष्ट कर दिया गया है। पूज्यश्री कानजी स्वामी से लिया गया इन्टरव्यू भी विषय के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक भ्रान्तियों को दूर कर देता है।

जब आत्मधर्म में इस विषय पर लेखमाला प्रारम्भ हुई तो हजारों पाठकों ने इसका हार्दिक स्वागत किया और सारी समाज में यह विषय और अधिक चर्चित हो गया। जन-सामान्य में भी इस विषय पर स्वाध्याय, मनन, चिन्तन प्रारम्भ हो गया। लेखमाला के इस सुपरिणाम को देखते हुए अनेक जगह से शीघ्र ही इसे पुस्तकाकार प्रकाशित करने की मांग आई। फलस्वरूप प्रस्तुत कृति आपके हाथों में प्रस्तुत है।

इसका गुजराती संस्करण प्रेस में है। कन्नड़ में इसका अनुवाद हो चुका है तथा मराठी व तमिल में हो रहा है, जो भी शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

यह कृति हिन्दी और गुजराती आत्मधर्म के माध्यम से ग्यारह हजार की संख्या में तो समाज के सामने पहुँच ही चुकी है। मराठी, कन्नड़ और तमिल आत्मधर्मों में भी सम्पादकीयों में प्रकाशित की जावेगी।

यह पुस्तक जन-जन को कम से कम मूल्य में उपलब्ध हो, इस भावना से श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ने इसका मूल्य कम करने के लिए २०% सहयोग प्रदान करने की स्वीकृति प्रदान की है; और भी अनेक भाइयों ने इसका मूल्य कम करने के लिए सहयोग दिया है जिनकी सूची प्रथमावृत्ति में पृष्ठ ८ पर दी गई है। इस योगदान के लिए हम श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ एवं सभी सहयोगियों के अत्यन्त आभारी हैं।

श्री सोहनलालजी जैन एवं श्री राजमलजी जैन ने अल्प समय में ही इस पुस्तक का सुन्दर मुद्रण कर दिया है। आप दोनों सज्जन स्वयं तत्त्वरुचिवान एवं तत्त्व-अभ्यासी हैं तथा सत्-साहित्य प्रकाशन में हमें सदा आपका सहयोग मिलता रहता है, एतदर्थ इन्हें जितना भी धन्यवाद दिया जाए कम है।

और भी अनेक बन्धुओं से इसमें प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है, उन सभी का मैं हृदय से आभारी हूँ।

सभी लोग अकर्त्ता-स्वभाव के आश्रय से क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझ कर सम्यक् पुरुषार्थ प्रगट करें – यही मेरी भावना है।

नेमीचन्द पाटनी

मन्त्री, पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

प्रकाशकीय

[द्वितीयावृत्ति]

इस ग्रंथ की प्रथमावृत्ति पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से छह माह पूर्व ही प्रकाशित हुई थी। यद्यपि यह कृति आत्मधर्म के संपादकीयों के रूप में क्रमशः प्रकाशित होती रही थी, तथापि दश हजार का प्रथम संस्करण चार-पाँच माह में ही समाप्त हो गया। ज्योंही यह कृति समाज के हाथ में पहुँची – इसकी मांग और भी अधिक बढ़ गई, अतः बारह हजार की यह द्वितीयावृत्ति छह माह के भीतर ही प्रकाशित करनी पड़ रही है, जिसमें पाँच हजार श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर एवं सात हजार श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ प्रकाशित कर रहा है।

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर अपने प्रकाशन पर लागत मूल्य से २५% कम मूल्य रख रहा है। भावना यह है कि यह अमूल्य कृति जन-जन तक पहुँचे और सब इसका पूरा-पूरा लाभ उठावें।

ध्यान रहे भावनगर ट्रस्ट ने इसका आठ हजार का गुजराती संस्करण भी लगभग तीन माह पूर्व प्रकाशित किया है तथा श्री कान्तिभाई मोटानी के सहयोग से उसे गुजराती आत्मधर्म के ग्राहकों को निःशुल्क भेंट भी किया है। जिनवाणी के प्रकाशन में यह ट्रस्ट अपना महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहा है। इस ट्रस्ट द्वारा अब तक प्रकाशित ग्रंथों की सूची कवर के अंतिम पृष्ठ पर दी गई है।

१ जुलाई, १९८०

श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

अपनी बात

'क्रमबद्धपर्याय' औरों के लिए एक सिद्धान्त हो सकती है, एकान्त हो सकती है, अनेकान्त हो सकती है, मजाक हो सकती है, राजनीति हो सकती है, पुरुषार्थप्रेरक या पुरुषार्थनाशक हो सकती है, अधिक क्या कहें किसी को कालकूट जहर भी हो सकती है। किसी के लिए कुछ भी हो – पर मेरे लिए वह जीवन है, अमृत है; क्योंकि मेरा वास्तविक जीवन, अमृतमय जीवन, आध्यात्मिक जीवन – इसके ज्ञान, इसकी पकड़ और इसकी आस्था से ही आरंभ हुआ है।

'क्रमबद्धपर्याय' की समझ मेरे जीवन में मात्र मोड़ लाने वाली ही नहीं, अपितु उसे आमूलचूल बदल देने वाली संजीवनी है। मेरी दृढ़ आस्था है कि जिसकी भी समझ में इसका सही स्वरूप आयगा, यह तथ्य सही रूप में उजागर होगा – उसका जीवन भी आनन्दमय, अमृतमय हुए बिना नहीं रहेगा।

यही कारण है कि मैं इसे घर-घर तक ही नहीं, अपितु जन-जन तक पहुँचा देना चाहता हूँ; इसे जन-जन की वस्तु बना देना चाहता हूँ।

इसके सम्बन्ध में बिना विचारे की जाने वाली हल्की-फुल्की चर्चा, हँसी-मजाक मुझे स्वीकार नहीं, पसंद भी नहीं है। इसे लौकिक धरातल से कुछ ऊपर उठकर समझना होगा, समझाना होगा। इसके संबंध में सामाजिक राजनीति से कुछ ऊपर उठकर बात करनी होगी।

मेरी समझ में यह कैसे आई – इसकी भी एक कहानी है, इस प्रसंग पर जिसके उल्लेख करने का लोभ संवरण कर पाना मेरे लिये संभव नहीं हो पारहा है।

बात यों हुई कि हम उत्तरप्रदेश के एक गाँव बबीना कन्ट (झाँसी) में दुकान करते थे। बात ईस्वी सन् १९५६ के दशहरे के आस-पास की है। मेरे अग्रज पंडित रतनचंदजी शास्त्री दुकान का सामान लेने झाँसी गये थे। वहाँ एक व्यक्ति ने उनसे प्रश्न किया कि जब केवली भगवान ने जैसा देखा-जाना-कहा है, वैसा ही होगा; उसमें कोई फेर-बदल संभव नहीं है, तो फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा ? जब हम कुछ कर ही नहीं सकते तो फिर हम कुछ करें ही क्यों ?

प्रश्न ने ही उनके हृदय को झकझोर डाला। वे स्तब्ध रह गये। उसके उत्तर में उन्होंने यद्वा-तद्वा कुछ भी कह कर पाण्डित्य-प्रदर्शन न करके यही कहा – भाई ! तुम बात तो ठीक कहते हो, मैं अभी इसके बारे में कुछ भी नहीं कह सकता, अगले शनिवार को आऊँगा तब बात करूँगा।

वह तो चला गया, पर वे रास्ते भर विचार करते रहे। आते ही कोई और बात किए बिना, मुझ से सीधा वही प्रश्न किया। मैं भी विचार में पड़ गया। परस्पर चर्चा होती रही, पर बात कुछ जमी नहीं।

शाम को प्रवचन में भी जब मैंने यही चर्चा की तब एक अभ्यासी बाई बोली – इसमें क्या है ? यह तो कानजी स्वामी की 'क्रमबद्धपर्याय' है। उस समय तक हमने कानजी स्वामी का नाम तो सुन रखा था पर क्रमबद्धपर्याय का तो नाम भी नहीं सुना था। अतः जब अधिक जिज्ञासा प्रकट की तो उन्होने मंदिरजी में से 'आत्मधर्म' के वे दो विशेषांक लाकर दिये जिसमें 'क्रमबद्धपर्याय' पर हुए स्वामीजी के तेरह प्रवचन प्रकाशित हुए थे। प्रथम अंक में आठ प्रवचन थे और दूसरे में पाँच। ये अंक ई० सन् ५४-५५ में ही निकले थे। बाद में तो वे ही प्रवचन 'ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव' नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए। उनको पढ़कर तो हमारे हृदय-कपाट खुल गये। ऐसा लगा कि हमें कोई अपूर्वनिधि मिल गई है। हम कृतकृत्य-से हो गये। फिर क्या था – तभी से गंभीर अध्ययन, मनन, चिंतन चर्चा-वार्ता आरम्भ हो गई। इसका रस कुछ ऐसा लगा कि चढ़ती उम्र के सभी रस फीके-से हो गये। 'क्रमबद्धपर्याय' की धुन में व्यापार का क्रम

गड़बड़ा गया। ग्राहक आकर चला जाता, क्योंकि उसकी बात पर कोई ध्यान देने वाला ही न रहा था। उसके जाने पर विचार आता कि इस तरह तो पूरा व्यापार ही चौपट हो जायगा, पर उसी समय क्रमबद्ध की याद आती और कह उठते – जो क्रमबद्ध में होना होगा, वही तो होगा।

इस तरह आरंभ हुआ अध्ययन-मनन का क्रम चला तो चलता ही रहा। फलस्वरूप निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, कर्त्ता-कर्म आदि सभी का सही स्वरूप स्पष्ट होता चला गया, कहीं कोई व्यवधान नहीं आया। बाद में स्वामीजी के सान्निध्य का लाभ भी प्राप्त हुआ।

सर्वप्रथम स्वामीजी के दर्शन तब हुए जब वे १९५७ ई० में शिखरजी की यात्रा पर निकले थे। बबीना पड़ाव पर बिना कार्यक्रम के ही उन्हें सड़क पर बलात् रोक लिया था। वहाँ हमने घंटों पूर्व ही स्टेज बनाकर रखी थी और वहाँ सारी समाज उपस्थित थी। स्वामीजी ने वहाँ सिर्फ पाँच मिनट का मांगलिक प्रवचन किया था।

उन्हीं के साथ हम सब भी सोनागिरि चले गये। तीन दिन तक वहाँ उनके प्रवचनों का लाभ सपरिवार लिया। उनसे सामान्य चर्चा भी की। उसके कुछ दिनों बाद ही चाँदखेड़ी में उनके प्रवचनों का लाभ मिला। उस समय मेरी देव-शास्त्र-गुरु पूजन प्रकाशित ही हुई थी, उसकी जयमाला में क्रमबद्धपर्याय की पोषक कुछ पंक्तियाँ आती हैं। जो इसप्रकार हैं :–

"जो होना है सो निश्चित है, केवलज्ञानी ने गाया है।
उस पर तो श्रद्धा ला न सका, परिवर्तन का अभिमान किया।
बन कर पर का कर्त्ता अब तक, सत् का न प्रभो सन्मान किया ॥"

मैंने यह अपनी प्रथम प्रकाशित कृति स्वामीजी को समर्पित की थी। उसके समर्पण में लिखा था :–

"उन पूज्य श्री कानजी स्वामी के कर-कमलों में सादर समर्पित, जिन्होंने कलिकाल में 'क्रमबद्धपर्याय' का स्वरूप समझाकर हम जैसे पामर प्राणियों पर अनन्त उपकार किया है।"

जब मैंने उक्त कृति चाँदखेड़ी में स्वामीजी को समर्पित की तब उन्होंने समर्पण पढ़कर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा –

"तुम क्रमबद्धपर्याय जानते हो ?"

उसके उत्तर में जब मैंने उत्साहपूर्वक 'हाँ' कहा, तब कहने लगे –

"सोनगढ़ आना, वहाँ चर्चा करेंगे।"

उनका हार्दिक आमंत्रण पाकर मेरा हृदय गद्‌गद् हो गया।

मैं कोटा तक उनके साथ गया। उनका वहाँ तीन दिन का कार्यक्रम था। उनके प्रवचनों का लाभ लेने के लिए मैं भी वहाँ तीन-चार दिन रहा। वहाँ की विशाल सभा में उनके समक्ष मेरा भी १५ मिनट का व्याख्यान हुआ, जिसमें मैंने अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ की व्याख्या की थी, जिसकी बाद में बहुत सराहना की गई। स्वामीजी ने भी प्रसन्नता व्यक्त की थी।

उसके बाद सन् १९५८ की जुलाई में २० दिन के लिए अनेक आत्मार्थी बन्धुओं के साथ हम दोनों सहोदर सोनगढ़ गये।

'क्रमबद्धपर्याय' की बात समझ में आने के पूर्व हमने आचार्य कुन्दकुन्द का नाम तो सुन रखा था, पर उनका कोई ग्रंथ पढ़ने की बात तो बहुत दूर, देखा भी नहीं था। यद्यपि उस समय कोई उम्र भी नहीं थी, २०-२१ वर्ष के ही थे; पर शास्त्री, न्यायतीर्थ और साहित्यरत्न तो हो ही गये थे। पंडित कहलाते थे, व्याख्यान भी खूब देते थे, लोकप्रिय व्याख्याता थे; पर जिनधर्म के मर्म से अपरिचित ही थे।

करते भी क्या ? न तो पाठ्यक्रम में आचार्य कुन्दकुन्द का कोई ग्रन्थ था और न ही कहीं आध्यात्मिक चर्चा का वातावरण ही था। सामाजिक उठा-पटक ही चलती रहती थी, जैन समाज की सभी पत्र-पत्रिकाएँ उसी से भरी रहती थीं।

हम भी तो उसी के रसिक थे, हमें भी आध्यात्मिक रुचि कहाँ थी ? पिताजी की रुचि से जैनदर्शन पढ़ा था, सो भाषा और परिभाषाओं में पढ़ डाला था, भावात्मकरूप में कुछ भी हाथ नहीं आया था। आरंभ से ही क्षयोपशम विशेष था ही, सो कोई भी

व्याख्यान बिना चेलेंज के पूरा नहीं होता था। समझ में शास्त्रों का मर्म तो नहीं, पर मान तो आ ही गया था।

यदि 'क्रमबद्धपर्याय' की बात ध्यान में न आती तो न जाने क्या होता? होता क्या, सब-कुछ ऐसे ही चलता रहता और बहुमूल्य मानवभव योंही चला जाता। पर जाता कैसे जबकि हमारी पर्याय के क्रम में 'क्रमबद्धपर्याय' की बात समझ में आने का काल पक गया था।

इसके बाद तो इसी कारण अनेक सामाजिक उपद्रवों का भी सामना करना पड़ा, शारीरिक व्याधियाँ भी कम नहीं रहीं, पर 'क्रमबद्ध' की श्रद्धा के बल पर आत्मबल कभी टूटा नहीं। 'क्रमबद्ध-पर्याय' की श्रद्धा एक ऐसी संजीवनी है जो हर स्थिति में धैर्य को कायम रखती है, शान्ति प्रदान करती है, कर्तृत्व के अहंकार को तोड़ती है, ज्ञाता-दृष्टा बने रहने की पावन प्रेरणा देती है – अधिक क्या, यों कहिये न, कि जीवन को सफल और सार्थक बना देती है।

विगत तेईस वर्षों से 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा अनवरत कायम रही है, कभी भी एक क्षण को उसके सम्बन्ध में चित्त डोला नहीं है। यद्यपि इस बीच चिन्तन में, मनन में, अध्ययन में बहुआयामी विकास हुआ है, पर श्रद्धा में कोई अन्तर नहीं आया है।

'क्रमबद्धपर्याय' के सम्बन्ध में मेरे द्वारा १९७९ के आरम्भ से ही निरन्तर जो कुछ लिखा जा रहा है, वह सब विगत तेईस वर्षों के अध्ययन-मनन-चिंतन का परिणाम है। अतः पाठक बन्धुओं से मेरा एक विनम्र अनुरोध है कि वे इसे मात्र पढ़ें ही नहीं, वरन बार-बार पढ़ें, विचार करें, मंथन करें, इसकी गहराई में जावें। इसकी चर्चा भी करें, पर गंभीरता से करें – इसे हँसी-मजाक का विषय न बनावें, बान-बात (Prestige Point) का विषय भी न बनावें।

यदि अभी तक इसका विरोध करते रहे हैं, तो भी इसकी स्वीकृति में हार का अनुभव न करें, क्योंकि इसकी स्वीकृति में हार में भी जीत है। इसकी सहज स्वीकृति में जीत ही जीत है, हार है ही नहीं।

इसके निर्णय में सर्वज्ञता का निर्णय समाहित है, सर्वज्ञकथित वस्तुस्वरूप का निर्णय समाहित है। मुक्ति का मार्ग आरम्भ करने के

लिए जो कुछ भी आवश्यक है, वह सब-कुछ इसकी श्रद्धा में आ जाता है।

विगत तेईस वर्षों से सैंकड़ों बार इस पर व्याख्यान किये हैं, उन्हें लिपिबद्ध करने के आग्रह भी श्रोताओं के बहुत रहे हैं, पर अभी तक यह सब लिखा नहीं जा सका था। 'आत्मधर्म' के सम्पादकीय लिखने की अनिवार्यता ने इसे लिखवा डाला है।

यदि एक भी आत्मार्थी इससे 'क्रमबद्धपर्याय' का सही स्वरूप समझ सका तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

इसके लिखने में मैं पूर्णतः सजग रहा हूँ। सर्वप्रथम यह निवन्ध जनवरी १९७९ में १६ पृष्ठों का (२०० प्रतियों में) प्रकाशित किया था। उसे एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में जयपुर में होने वाले सेमिनार में प्रस्तुत किया था। उक्त सेमिनार में समागत सभी विद्वानों को तो दिया ही था, और भी अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों की सेवा में निम्नानुसार निवेदन करते हुए भेजा था :-

"यह निबंध अभी अपूर्ण है। आवश्यक संशोधन और परिमार्जन भी शेष है। शीघ्र प्रकाश्य इस निबन्ध के सन्दर्भ में विद्वानों की महत्त्वपूर्ण सलाह, सुझाव, सूचना सानुरोध अपेक्षित है। हम विश्वास दिलाते हैं कि प्रकाशन के पूर्व प्राप्त सुझावों पर गंभीरतापूर्वक विचार कर आवश्यक संशोधन अवश्य किए जावेंगे।"

परिणामस्वरूप अनेक विद्वानों के पत्र आये, जिनमें कुछ सुझाव भी थे, बाकी अनुशंसा ही अधिक थी।

उनपर गंभीरतापूर्वक विचार कर इसे आगे बढ़ाया गया। बीच में भी कुछ परिवर्द्धन हुआ। इसप्रकार यह २५ पृष्ठ का हो गया। जिसे दुबारा छपाकर फिर एकबार विद्वानों के पास भेजा गया। उसमें भी निम्नानुसार अनुरोध किया गया था :-

"यह निबन्ध आपकी (विद्वानों की) सेवा में आवश्यक सुझाव व सलाह के लिए लगभग दो माह पूर्व भेजा गया था, तब यह १६ पृष्ठ का था। अब यह परिवर्द्धित होकर इस रूप में आ गया है; पर अभी भी अपूर्ण है। अभी भी हम आपके महत्त्वपूर्ण सुझावों की

अपेक्षा रखते हैं। वैसे यह अभी आत्मधर्म में सम्पादकीय के रूप में प्रकाशित हो ही रहा है, बाद में इसे पुस्तकाकार प्रकाशित करने की योजना है। जैसाकि पहिले निवेदन किया गया था – हम विश्वास दिलाते हैं कि पुस्तकाकार प्रकाशन के पूर्व प्राप्त सुझावों पर गंभीरता-पूर्वक विचार कर आवश्यक संशोधन, परिवर्द्धन अवश्य किये जावेंगे।"

आत्मधर्म के पाठकों से भी अनेक पत्र प्राप्त हुए। सबको ध्यान में रखते हुए इसे विस्तार दिया गया। चूंकि इस विषय को इस युग में पूज्य श्री कानजी स्वामी ने उठाया था – अतः उनके ताजे विचार भी पाठकों तक पहुँचें – इस भावना से उनसे इस सन्दर्भ में एक इन्टरव्यू भी लिया गया, जो कि हिन्दी आत्मधर्म के सितम्बर, १९७९ के अंक में प्रकाशित हो चुका है।

इस प्रकार फरवरी, १९७९ से सितम्बर, १९७९ तक लगातार हिन्दी आत्मधर्म में सम्पादकीयों के रूप में यह महानिबंध प्रकाशित होता रहा जो कि आत्मधर्म (साइज २०×३०/८) में तब तक लगभग ५० पृष्ठों का हो चुका था। इसके बाद अक्टूबर, १९७९ के हिन्दी आत्मधर्म में 'अपनी बात' शीर्षक से इसके सम्बन्ध में एक संपादकीय लिखा गया। इसे सर्वांग बनाने के उद्देश्य से उसमें भी जिज्ञासु पाठकों एवं सम्माननीय विद्वानों से मार्ग-दर्शन चाहा गया और उन्हें विश्वास दिलाया गया कि प्रकाशन से पूर्व प्राप्त सुझावों, सूचनाओं पर गंभीरतापूर्वक विचार कर आवश्यक संशोधन, परिवर्तन, परिवर्द्धन, स्पष्टीकरण अवश्य किए जावेंगे; इस महानिबंध के परिमार्जन में उनके सुझावों का भरपूर उपयोग किया जावेगा।

इन सम्पूर्ण आग्रह-अनुरोधों से जो कुछ भी प्राप्त हुआ, उसमें प्रोत्साहन और प्रशंसा ही अधिक थी, सुझाव और सलाह कम। फिर भी बार-बार किये गये अनुरोधों के फलस्वरूप जो भी मार्ग-दर्शन मिला, उसका दिल खोलकर लाभ लिया गया है। जो भी प्रश्न प्राप्त हुए उन्हें प्रश्नोत्तरों के रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। बहुत से सम्भावित प्रश्न स्वयं उठा-उठाकर समाधान करने का प्रयत्न किया है।

इसप्रकार इस ग्रंथ के दो खण्ड हो गए हैं :–

१. क्रमबद्धपर्याय : एक अनुशीलन

२. क्रमबद्धपर्याय : कुछ प्रश्नोत्तर

अन्त में तीन परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिनमें पू० कानजी स्वामी से लिया गया इन्टरव्यू, सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची और विद्वानों के अभिमत दिये गये हैं।

यह वर्ष मेरे लिये 'क्रमबद्धवर्ष' के रूप में आया। आत्मधर्म में सम्पादकीयों के रूप में लगातार इसकी चर्चा करने के कारण इस बीच जहाँ भी प्रवचनार्थ गया, जनता के आग्रह से 'क्रमबद्धपर्याय' पर ही प्रवचन करने पड़े। श्रीसम्मेदशिखरजी, बम्बई, राजकोट, सतना, अजमेर, हस्तिनापुर – यहाँ तक सोनगढ़ शिविर में भी लगातार दश दिन तक क्रमबद्धपर्याय पर प्रवचन चले। जयपुर में तो पूरे वर्ष यह विषय चर्चा का विषय बना रहा है। जिज्ञासु श्रोताओं और मेधावी छात्रों के आग्रह पर इस पर अनेक प्रवचन भी किए हैं, उनसे चर्चाएँ भी खूब हुईं।

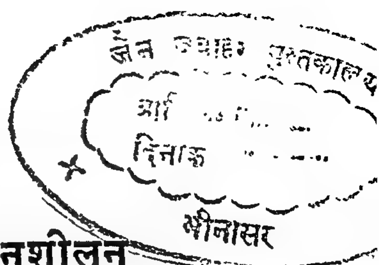
'क्रमबद्धमय' वातावरण बना रहने से भी काफी चिन्तन इसके सन्दर्भ में चलता रहा। वह सब-कुछ नहीं तो बहुत-कुछ तो इसमें आ ही गया है।

इसप्रकार इसे सर्वाङ्ग बनाने का भरपूर उपक्रम किया गया है। फिर भी यदि कोई कमी रह गयी हो तो सभी जिज्ञासु पाठकों एवं सम्माननीय विद्वानों से सानुरोध आग्रह है कि वे उस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करें। उनके सुझावों का उपयोग अगले संस्करण में अवश्य किया जावेगा। हम नहीं चाहते कि इसमें कोई कमी रह जावे।

जैनदर्शन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गंभीर इस विषय को निर्विवाद रूप से सर्वाङ्ग प्रस्तुत करने की भावना से ही यह अनुरोध किया गया है। आशा है विद्वज्जन इस पर ध्यान देंगे।

अन्त में इस पवित्र भावना के साथ अपनी बात समाप्त करता हूँ कि सारा जगत 'क्रमबद्धपर्याय' के सही स्वरूप को समझकर स्वभाव-सन्मुख होकर अनन्त सुखी हो।

– (डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल



प्रथम खण्ड

क्रमबद्धपर्याय : एक अनुशीलन

'क्रमबद्धपर्याय' आज दिगम्बर जैन समाज का बहुचर्चित विषय है। चाहे पक्ष में हो या विपक्ष में – पर इसकी चर्चा आज तत्त्वप्रेमी समाज में सर्वत्र होती देखी जाती है। यद्यपि पूज्य श्री कानजी स्वामी ने इस विषय को बड़ी ही गंभीरता से प्रस्तुत कर अध्यात्म जगत में एक क्रान्ति का शंखनाद कर दिया है और यह महत्त्वपूर्ण विषय समाज में आज चर्चा का विषय भी बना हुआ है, तथापि इसकी गहराई में जाने वाले व्यक्ति कम ही नजर आते हैं। जैनदर्शन के इस अनुपम अनुसंधान पर जिस गहराई से मंथन किया जाना चाहिए, वह दिखाई नहीं देता।

इस महान दार्शनिक उपलब्धि को व्यर्थ के वाद-विवाद एवं सामाजिक राजनीति का विषय बना लिया गया है। यह एक शुद्ध दार्शनिक विषय है। इसे वाद-विवाद एवं हंसी-मजाक का विषय न बनाकर इस पर विशुद्ध दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिए। जैनदर्शन से संबंधित होने से यहाँ इस विषय पर जैनागम के परिप्रेक्ष्य में सयुक्ति एवं सोदाहरण अनुशीलन अपेक्षित है।

'क्रमबद्धपर्याय से' आशय यह है कि इस परिणमनशील जगत की परिणमन-व्यवस्था 'क्रमनियमित' है। जगत में जो भी परिणमन निरंतर हो रहा है, वह सब एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित रूप से हो रहा है। स्थूलदृष्टि से देखने पर जो परिणमन अव्यवस्थित दिखाई देता है, गहराई से विचार करने पर उसमें भी एक सुव्यवस्थित व्यवस्था नजर आती है। जैसे कि नाटक के रंगमंच पर जो दृश्य व्यवस्थित दिखाये जाते हैं, वे तो पहिले से निश्चित और पूर्ण व्यवस्थित होते ही हैं; किन्तु जो दृश्य अव्यवस्थित दिखाये जाते हैं, वे भी पूर्व नियोजित एवं पूर्ण व्यवस्थित होते हैं।

एकदम व्यवस्थित दिखाई जाने वाली किसी रईस की कोठी जिसप्रकार पूर्व नियोजित एवं व्यवस्थित होती है; उसीप्रकार अव्यवस्थित दिखाई जाने वाली किसी गरीब की झोंपड़ी भी अनियोजित और अव्यवस्थित नहीं होती, अपितु वह भी पूर्णतः नियोजित और व्यवस्थित ही होती है। उसकी टूटी खाट और फटे कपड़े दिखाने के लिए पहिले से ही साबुत खाट तोड़नी एवं साबुत कपड़े फाड़ने पड़ते हैं। कहीं थाली पड़ी है और कहीं लोटा – यह बताने के लिए व्यवस्थित रूप से एक निश्चित स्थान पर थाली और दूसरे निश्चित स्थान पर लोटा रखे जाते हैं।

जिसप्रकार उक्त अव्यवस्थित दिखने वाली व्यवस्था भी पूर्व निश्चित और व्यवस्थित होती है; ठीक उसीप्रकार सम्पूर्ण द्रव्यों का अव्यवस्थित-सा दिखने वाला परिणमन भी पूर्ण निश्चित और व्यवस्थित होता है।

जिसप्रकार नाटक में दृश्य क्रमशः आते हैं, एक साथ नहीं; उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य में पर्यायें क्रमशः ही होती हैं, एक साथ नहीं। नाटक में यह भी तो निश्चित होता है कि किस दृश्य के बाद कौन-सा दृश्य आयेगा; उसीप्रकार पर्यायों में भी यह निश्चित होता है कि किसके बाद कौनसी पर्याय आवेगी। जिसप्रकार जिसके बाद जो दृश्य आना निश्चित होता है, उसके बाद वही दृश्य आता है, अन्य नहीं; उसीप्रकार जिसके बाद जो पर्याय (कार्य) होनी होती है, वही होती है, अन्य नहीं। इसी का नाम 'क्रमबद्धपर्याय' है।

प्रत्येक द्रव्य की वह परिणमन-व्यवस्था व्यवस्थित ही नहीं, स्वाधीन भी है; किसी अन्य द्रव्य के आधीन नहीं। एक द्रव्य के परिणमन में दूसरे द्रव्य का कोई भी हस्तक्षेप नहीं है।

जैसा कि सर्वश्रेष्ठ दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रंथराज समयसार की गाथा ३०८ से ३११ तक की आत्मख्याति नामक टीका में आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं :–

"जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः; एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवः।

प्रथम तो जीव क्रमनियमित (क्रमबद्ध) ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमनियमित (क्रमबद्ध) अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं।"

यहाँ समस्त जीवों और अजीवों के परिणमन को क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है। जीव और अजीव के अतिरिक्त जगत में और है ही क्या? जीव और अजीव द्रव्यों के समूह का नाम ही तो विश्व अर्थात् जगत है। इसप्रकार समस्त जगत का परिणमन ही क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है।

'क्रमनियमित' और 'क्रमबद्ध' शब्द एकार्थवाची ही हैं। जैसा कि जैनतत्त्वमीमांसा में स्पष्ट किया गया है :–

"प्रत्येक कार्य अपने स्वकाल में ही होता है, इसलिए प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें क्रमनियमित हैं। एक के बाद एक अपने-अपने स्वकाल में निश्चय उपादान के अनुसार होती रहती हैं।

यहाँ पर 'क्रम' शब्द पर्यायों की क्रमाभिव्यक्ति को दिखलाने के लिए स्वीकार किया है और 'नियमित' शब्द प्रत्येक पर्याय का स्वकाल अपने-अपने निश्चय उपादान के अनुसार नियमित है – यह दिखलाने के लिए दिया गया है।

वर्त्तमान काल में जिस अर्थ को 'क्रमबद्धपर्याय' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, 'क्रमनियमितपर्याय' का वही अर्थ है।"[1]

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ मात्र यह नहीं कहा गया है कि पर्यायें क्रम से होती हैं, अपितु यह भी कहा गया है कि वे नियमितक्रम में होती हैं। आशय यह है कि "जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, जिस निमित्त, व जिस पुरुषार्थपूर्वक, जैसी होनी है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल में, उसी निमित्त, व उसी पुरुषार्थपूर्वक, वैसी ही होती है; अन्यथा नहीं" – यह नियम है।

---

[1] जैनतत्त्वमीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २६८

जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है :-

"जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ।। ३२१ ।।

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ।। ३२२ ।।

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए ।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ।। ३२३ ।।

जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से, वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है ? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता है।

इसप्रकार निश्चय से जो द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है; और जो इसमें शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है।"

जिनागम में और भी अनेक स्थानों पर इसप्रकार का भाव व्यक्त किया गया है :-

"प्रागेव यदवाप्तव्यं येन यत्र यथा यतः ।
तत्परिप्राप्यतेऽवश्यं तेन तत्र तथा ततः ।।[1]

जिसे, जहाँ, जिसकारण से, जिसप्रकार से, जो वस्तु प्राप्त होनी होती है; उसे, वहाँ, उसीकारण से, उसीप्रकार, वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है।"

"जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे ।
बिन देख्यो होसी नहिं क्यों ही, काहे होत अधीरा रे ।।
समयो एक बढै नहिं घटसी, जो सुख-दुख की पीरा रे ।
तू क्यों सोच करै मन कूड़ो, होय वज्र ज्यों हीरा रे ।।"[2]

---

१ आचार्य रविषेण : पद्मपुराण, सर्ग ११०, श्लोक ४०
२ भैया भगवतीदास : अध्यात्मपद संग्रह, पृष्ठ ८१

तथा

"जा करि जैसें जाहि समय में, जो होतव[1] जा द्वार।
सो बनिहै टरिहै कछु नाहीं, करि लीनौं निरधार।।
हमकौं कछु भय ना रे, जान लियो संसार ।।टेक।।"[2]

"सम्यग्दृष्टि के ऐसा विचार होय है – जो वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जान्या है, तैसा निरंतर परिणमै है, सो होय है। इष्ट-अनिष्ट मान दुखी-सुखी होना निष्फल है। ऐसे विचार तैं दुख मिटै है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है।"[3]

"बहुरि सम्यग्दृष्टिकै ऐसा निश्चय है – जिस जीव के जिस देश में जिस काल में जिस विधान करकै जन्म वा मरण वा लाभ-अलाभ सुख-दुःख होना जिनेन्द्र भगवान दिव्यज्ञानकरि जान्या है; तिस जीव के तिस देश में तिस काल में तिस विधान करकै जन्म-मरण लाभ-अलाभ नियम तैं होय ही, ताहि दूर करने कूं कोऊ इन्द्र अहमिन्द्र जिनेन्द्र समर्थ नाहीं हैं।"[4]

उक्त प्रकरणों में प्रायः सर्वत्र ही सर्वज्ञ के ज्ञान को आधार मान कर भविष्य को निश्चित निरूपित किया गया है और उसके आधार पर अधीर नहीं होने का एवं निर्भय रहने का उपदेश दिया गया है। स्वामी कार्तिकेय ने तो ऐसी श्रद्धा वाले को ही सम्यग्दृष्टि घोषित किया है और इसप्रकार नहीं मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कहने में भी उन्हें किंचित् भी संकोच नहीं हुआ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 'क्रमबद्धपर्याय' की सिद्धि में सर्वज्ञता सबसे प्रबल हेतु है।

---

[1] भवितव्यता।

[2] बुधजन : अध्यात्मपद संग्रह, पृष्ठ ७९

[3] पं० जयचंदजी छावड़ा : मोक्षपाहुड़, गाथा ८६ का भावार्थ

[4] पं० सदासुखदासजी कासलीवाल : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १३७ का भावार्थ

निष्पन्न पर्यायों को क्रमबद्धता स्वीकार करने में तो जगत को कोई बाधा नजर नहीं आती, किन्तु जब अनिष्पन्न भावी पर्यायों को भी निश्चित कहा जाता है तो जगत चौंक उठता है। उसे लगता है कि यदि सब-कुछ निश्चित ही है तो फिर हमारा यह करना-धरना सब बेकार है। कर्त्तृत्व के अभिमान की जिस दीवार को वह ठोस आधार मानकर खड़ा था, अकड़ रहा था; जब वह ढहती नजर आती है, तो एकदम बौखला जाता है। उसकी बौखलाहट यहाँ तक बढ़ती है कि जैसा सर्वज्ञ भगवान को और उनकी सर्वज्ञता को वह अभी तक हृदय से (बुद्धि से नहीं) स्वीकार कर रहा था – उसके प्रति भी शंकित हो उठता है, उसका भी विरोध करने लगता है।

चूंकि अभी तक सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार करता रहा है, अतः एकदम तो उससे मुकर नहीं पाता; अतः सर्वज्ञता की व्याख्यायें बदलने लगता है। कभी कहता है कि वे भूतकाल और वर्त्तमान को तो जानते हैं, पर भविष्य को नहीं; क्योंकि भूतकाल में तो जो कुछ होना था सो हो चुका और वर्त्तमान हो ही रहा है, अतः उन्हें जानने में तो कोई आपत्ति नहीं; पर भविष्य की घटनाएँ जब अभी घटित ही नहीं हुई तो उन्हें जानेंगे ही क्या ? कभी कहता है कि भविष्य को जानते तो हैं, किन्तु सशर्त्त जानते हैं। जैसे – जो पुण्य करेगा वह सुखी होगा और जो पाप करेगा वह दुखी होगा। जो पढ़ेगा वह पास होगा, और जो नहीं पढ़ेगा वह पास नहीं होगा – आदि न जाने कितने रास्ते निकालता है।

पर उसका यह अथक् प्रयास निष्फल ही रहता है, क्योंकि कोई रास्ता है ही नहीं तो निकलेगा कहाँ से ? यह कैसे हो सकता है कि वह सर्वज्ञ तो माने, पर भविष्यज्ञ नहीं। सर्वज्ञ का अर्थ त्रिकालज्ञ होता है। जो भविष्य को न जान सके वह कैसा सर्वज्ञ ? सर्वज्ञ की व्याख्या तो ऐसी है कि जो सबको जाने सो सर्वज्ञ। कहा भी है :–

"सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य"[1]

केवलज्ञान का विषय तो समस्त द्रव्य और उनकी तीनकाल संबंधी समस्त पर्यायें हैं।"

[1] आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २९

जो कुछ हो चुका है, हो रहा है, और भविष्य में होने वाला है; सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में तो वह सब वर्त्तमानवत् स्पष्ट झलकता है।

उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं :-

"तेषां पर्यायाश्च त्रिकालभुवः प्रत्येकमनन्तानन्तास्तेषु। द्रव्यं पर्यायजातं न किंचित्केवलज्ञानस्य विषयभावमतिक्रान्तमस्ति। अपरिमितमाहात्म्यं हि तदिति ज्ञापनार्थं सर्वद्रव्यपर्यायेषु इत्युच्यते।[1]

सब द्रव्यों की पृथक्-पृथक् तीनों कालों में होने वाली अनन्तानन्त पर्यायें हैं। इन सब में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय-समूह है जो केवलज्ञान के विषय के परे हो। केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है, इसी बात का ज्ञान कराने के लिये सूत्र में 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' कहा है।"

इसीप्रकार भविष्य का ज्ञान होना तो माने, पर भविष्य का निश्चित होना नही माने, यह कैसे संभव है ? ऐसा तो सर्वसाधारण भी कह सकते हैं कि जो पढ़ेगा वह पास होगा। इसमें सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता क्या रही ?

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :-

"जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं व णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ।।[2]

यदि अनुत्पन्न (भविष्य की) और विनष्ट (भूत की) पर्याय सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?"

धवला पुस्तक ६ में इसी बात को इसप्रकार व्यक्त किया है :-

"णट्ठाणुप्पण्ण अत्थाणं कधं तदो परिच्छेदो। ण, केवलत्तादो वज्झत्थावेक्खाए विणा तदुप्पत्तीए विरोहाभावा।

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सूत्र २९ की टीका

[2] प्रवचनसार, गाथा ३९

प्रश्न – जो पदार्थ नष्ट हो चुके हैं और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनका केवलज्ञान से कैसे ज्ञान हो सकता है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि केवलज्ञान के सहाय-निरपेक्ष होने से बाह्य पदार्थों की अपेक्षाके बिना उनके (विनष्ट और अनुत्पन्न के) ज्ञान की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है।"[1]

आचार्य अमृतचन्द्र ने सर्वज्ञ द्वारा समस्त ज्ञेयों को एक क्षण में सम्पूर्ण गुण और पर्यायों सहित अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष जानने की चर्चा इसप्रकार की है :–

"अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्ण-लिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं.......।[2]

एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमशः प्रवर्त्तमान, अनन्त, भूत-वर्त्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूह वाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को – मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों, इसप्रकार – एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है..........।"

"अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ।[3]

अथवा अतिविस्तार से बस हो – जिसका अनिवार फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिकज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्व को जानता है ।"

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ १५१

[2] प्रवचनसार, गाथा २०० की तत्त्वप्रदीपिका टीका

[3] प्रवचनसार, गाथा ४७ की तत्त्वप्रदीपिका टीका

भगवती आराधना में सर्वज्ञ की त्रिकालज्ञता का स्पष्ट उल्लेख इसप्रकार है :–

"पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे ।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥२१४१॥

वे (सिद्ध परमेष्ठी) सम्पूर्ण द्रव्यों व उनकी पर्यायों से भरे हुए सम्पूर्ण जगत को तीनों कालों में जानते हैं। तो भी वे मोहरहित ही रहते हैं।"

इसीप्रकार का भाव आचार्य अमितगति ने योगसार में भी व्यक्त किया है :–

"अतीता भाविनश्चार्थाः स्वे-स्वे काले यथाखिलाः ।
वर्तमानास्ततस्तद्वद्वेक्षि तानपि केवलं ॥[1]

भूत और भावी समस्त पदार्थ जिसरूप से अपने-अपने काल में वर्त्तमान रहते हैं, केवलज्ञान उन्हें भी उसी रूप से जानता है।"

सर्वज्ञता की सिद्धि आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में, आचार्य अकलंकदेव ने उसकी टीका अष्टशती में, एवं आचार्य विद्यानंदि ने अष्टसहस्त्री में विस्तार से की है। 'सर्वज्ञसिद्धि' जैनन्यायशास्त्र का एक प्रमुख विषय है। एक प्रकार से सम्पूर्ण न्यायशास्त्र ही सर्वज्ञता की सिद्धि में समर्पित है। फिर भी जब न्यायविषयक अनेक उपाधियों से विभूषित विद्वद्वर्ग सर्वज्ञता में भी आशंकाएँ व्यक्त करने लगता है या उसकी नई-नई व्याख्यायें प्रस्तुत करने लगता है, तो आश्चर्य हुए विना नहीं रहता।

सर्वज्ञ भगवान का भविष्य सम्वन्धी ज्ञान 'पढेगा तो पास होगा' के रूप में अनिश्चयात्मक न होकर 'यह पढ़ेगा और अवश्य पास होगा' अथवा 'नहीं पढ़ेगा और पास भी नहीं होगा' के रूप में निश्चयात्मक होता है।

---

[1] योगसार, अ० १, छन्द २८

प्रश्न – जो पदार्थ नष्ट हो चुके हैं और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनका केवलज्ञान से कैसे ज्ञान हो सकता है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि केवलज्ञान के सहाय-निरपेक्ष होने से बाह्य पदार्थों की अपेक्षाके बिना उनके (विनष्ट और अनुत्पन्न के) ज्ञान की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है।"[1]

आचार्य अमृतचन्द्र ने सर्वज्ञ द्वारा समस्त ज्ञेयों को एक क्षण में सम्पूर्ण गुण और पर्यायों सहित अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष जानने की चर्चा इसप्रकार की है :–

"अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्ण-लिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्ता-नन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातकेक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं........।[2]

एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमशः प्रवर्त्तमान, अनन्त, भूत-वर्त्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूह वाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को – मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों, इसप्रकार – एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है..........।"

"अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात्।[3]

अथवा अतिविस्तार से बस हो – जिसका अनिवार फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिकज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्व को जानता है।"

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ १५१

[2] प्रवचनसार, गाथा २०० की तत्त्वप्रदीपिका टीका

[3] प्रवचनसार, गाथा ४७ की तत्त्वप्रदीपिका टीका

भगवती आराधना में सर्वज्ञ की त्रिकालज्ञता का स्पष्ट उल्लेख इसप्रकार है :–

"पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे ।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥२१४१॥

वे (सिद्ध परमेष्ठी) सम्पूर्ण द्रव्यों व उनकी पर्यायों से भरे हुए सम्पूर्ण जगत को तीनों कालों में जानते हैं। तो भी वे मोहरहित ही रहते हैं।"

इसीप्रकार का भाव आचार्य अमितगति ने योगसार में भी व्यक्त किया है :–

"अतीता भाविनश्चार्थाः स्वे-स्वे काले यथाखिलाः ।
वर्तमानास्ततस्तद्वद्वेक्षि तानपि केवलं ॥[1]

भूत और भावी समस्त पदार्थ जिसरूप से अपने-अपने काल में वर्तमान रहते हैं, केवलज्ञान उन्हें भी उसी रूप से जानता है।"

सर्वज्ञता की सिद्धि आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में, आचार्य अकलंकदेव ने उसकी टीका अष्टशती में, एवं आचार्य विद्यानंदि ने अष्टसहस्त्री में विस्तार से की है। 'सर्वज्ञसिद्धि' जैनन्यायशास्त्र का एक प्रमुख विषय है। एक प्रकार से सम्पूर्ण न्यायशास्त्र ही सर्वज्ञता की सिद्धि में समर्पित है। फिर भी जब न्यायविषयक अनेक उपाधियों से विभूषित विद्वद्वर्ग सर्वज्ञता में भी आशंकाएँ व्यक्त करने लगता है या उसकी नई-नई व्याख्यायें प्रस्तुत करने लगता है, तो आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।

सर्वज्ञ भगवान का भविष्य सम्बन्धी ज्ञान 'पढेगा तो पास होगा' के रूप में अनिश्चयात्मक न होकर 'यह पढ़ेगा और अवश्य पास होगा' अथवा 'नहीं पढ़ेगा और पास भी नहीं होगा' के रूप में निश्चयात्मक होता है।

---

[1] योगसार, अ० १, छन्द २८

भविष्य को निश्चित मानने में अज्ञानी को वस्तु की स्वतंत्रता खण्डित होती प्रतीत होती है। पर उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि भविष्य को अनिश्चित मानने पर ज्योतिष आदि निमित्तज्ञान काल्पनिक सिद्ध होंगे, जबकि सूर्यग्रहण आदि की घोषणाएँ वर्षों पहिले कर दी जाती हैं और वे सत्य निकलती हैं। अवधिज्ञा और मनःपर्ययज्ञान भी अपनी सीमा में भविष्य को जानते ही हैं लाखों वर्षों आगे के भविष्य की निश्चित घोषणाओं से सर्वज्ञ-कथि जिनागम भरा पड़ा है और वे समस्त घोषणाएँ 'ऐसा ही होगा' भाषा में है। सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से इन्कार करने का अर्थ सम जिनागम को तिलाञ्जली देना होगा।

यदि 'क्रमबद्धपर्याय' की बात पहिले हमारे ध्यान में नहीं और वह इस युग में एक ऐसे व्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत हुई हम किसी कारणवश पसंद नहीं करते हैं तो इसका मतलब य नहीं होना चाहिए कि हम सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से भी इन्का अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी मार लें। इस आत्मघाती कदम के पूर्व चिन्तक वर्ग से एक बार पुनर्विचार कर लेने का आग्रह है।

अत्यन्त स्पष्ट उक्त आगम प्रमाणों एवं अकाट्य यु आहत कुछ लोग इन प्रबल प्रहारों से बचने के लिए नियमस १५९ का सहारा लेते हैं, जो कि इसप्रकार है :–

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भग
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण

व्यवहारनय से केवली भगवान सब जानते हैं औ निश्चयनय से केवलज्ञानी आत्मा को जानता है और देख

परमात्मप्रकाश में भी इसप्रकार का कथन आता है

"ते पुणु वंदउँ सिद्धगण जे अप्पाणि
लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहिं विमलु[1]

[1] परमात्मप्रकाश, अ० १, दोहा ५

मैं उन सिद्धों को वन्दता हूँ – जो निश्चय करके अपने स्वरूप में तिष्ठते हैं; और व्यवहारनय करि लोकालोक को संशयरहित प्रत्यक्ष देखते हुए ठहर रहे हैं।"

उक्त कथनों के आधार पर वे लोग कहते हैं कि केवली भगवान पर को तो व्यवहार से जानते हैं, निश्चय से तो जानते नहीं; और व्यवहार असत्यार्थ है – जैसाकि समयसार गाथा ११ में कहा है :–

"ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
व्यवहार अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है।"

इसप्रकार जब केवली भगवान पर को जानते ही नहीं हैं, तो फिर समस्त द्रव्यों की भविष्य की पर्यायों को जानने की बात ही कहाँ रह जाती है ?

पर उनका यह कहना भी पूर्वापर-विचार रहित है। क्योंकि एक तो पर को नहीं जानने से पर के भविष्य को नहीं जानने की बात कहना तो कुछ समझ में आ भी सकती है, पर अपने भविष्य को भी नहीं जानते यह कैसे सिद्ध होगा ? अतः यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे भविष्य को नहीं जानते।

दूसरी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने उक्त कथनों के मर्म पर ध्यान ही नहीं दिया है। यदि उक्त कथनों को पूर्वापर अच्छी तरह देख लिया जाय तो सब-कुछ स्पष्ट हो जाता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन 'स्वाश्रितो निश्चयः, पराश्रितो व्यवहार :– स्वाश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं – इन परिभाषाओं को ध्यान में रखकर किया गया है। जैसा कि नियमसार की उक्त गाथा की संस्कृत टीका में स्पष्ट उल्लेख है।

जिसमें 'स्व' की ही अपेक्षा हो, यह निश्चयकथन है और जिसमें 'पर' की अपेक्षा आवे, वह व्यवहारकथन होता है। अतः केवली भगवान अपनी आत्मा को देखते-जानते हैं – यह निश्चयकथन हुआ और वे पर को देखते-जानते हैं – यह व्यवहारकथन हुआ; उक्त कथन का तात्पर्य मात्र इतना है। वे पर को व्यवहार से जानते हैं – इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे पर को जानते ही नहीं हैं।

भविष्य को निश्चित मानने में अज्ञानी को वस्तु की स्वतंत्रता खण्डित होती प्रतीत होती है। पर उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि भविष्य को अनिश्चित मानने पर ज्योतिष आदि निमित्तज्ञान काल्पनिक सिद्ध होंगे, जबकि सूर्यग्रहण आदि की घोषणाएँ वर्षों पहिले कर दी जाती हैं और वे सत्य निकलती हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान भी अपनी सीमा में भविष्य को जानते ही हैं। लाखों वर्षों आगे के भविष्य की निश्चित घोषणाओं से सर्वज्ञ-कथित जिनागम भरा पड़ा है और ने समस्त घोषणाएँ 'ऐसा ही होगा' की भाषा में है। सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से इन्कार करने का अर्थ समस्त जिनागम को तिलाञ्जली देना होगा।

यदि 'क्रमबद्धपर्याय' की बात पहिले हमारे ध्यान में नहीं आई और वह इस युग में एक ऐसे व्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत हुई जिसे हम किसी कारणवश पसंद नहीं करते हैं तो इसका मतलब यह तो नहीं होना चाहिए कि हम सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से भी इन्कार कर अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी मार लें। इस आत्मघाती कदम उठाने के पूर्व चिन्तक वर्ग से एक बार पुनर्विचार कर लेने का अनुरोध आग्रर्व है।

अत्यन्त स्पष्ट उक्त आगम प्रमाणों एवं अकाट्य युक्तियों से आहत कुछ लोग इन प्रबल प्रहारों से बचने के लिए नियमसार गाथा १५६ का सहारा लेते हैं, जो कि इसप्रकार है :-

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥

व्यवहारनय से केवली भगवान सब जानते हैं और देखते हैं; निश्चयनय से केवलज्ञानी आत्मा को जानता है और देखता है।"

परमात्मप्रकाश में भी इसप्रकार का कथन आता है :-

"ते पुणु वंदउँ सिद्धगण जे अप्पाणि वसंत।
लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहिं विमलु णियंत।[1]

[1] परमात्मप्रकाश, अ० १, दोहा ५

मैं उन सिद्धों को वन्दता हूँ – जो निश्चय करके अपने स्वरूप में तिष्ठते हैं; और व्यवहारनय करि लोकालोक को संशयरहित प्रत्यक्ष देखते हुए ठहर रहे हैं।"

उक्त कथनों के आधार पर वे लोग कहते हैं कि केवली भगवान पर को तो व्यवहार से जानते हैं, निश्चय से तो जानते नहीं; और व्यवहार असत्यार्थ है – जैसाकि समयसार गाथा ११ में कहा है :–

"ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
व्यवहार अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है।"

इसप्रकार जब केवली भगवान पर को जानते ही नहीं हैं, तो फिर समस्त द्रव्यों की भविष्य की पर्यायों को जानने की बात ही कहाँ रह जाती है ?

पर उनका यह कहना भी पूर्वापर-विचार रहित है। क्योंकि एक तो पर को नहीं जानने से पर के भविष्य को नहीं जानने की बात कहना तो कुछ समझ में आ भी सकती है, पर अपने भविष्य को भी नहीं जानते यह कैसे सिद्ध होगा ? अतः यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वे भविष्य को नहीं जानते।

दूसरी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने उक्त कथनों के मर्म पर ध्यान ही नहीं दिया है। यदि उक्त कथनों को पूर्वापर अच्छी तरह देख लिया जाय तो सब-कुछ स्पष्ट हो जाता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन 'स्वाश्रितो निश्चयः, पराश्रितो व्यवहार :– स्वाश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं – इन परिभाषाओं को ध्यान में रखकर किया गया है। जैसा कि नियमसार की उक्त गाथा की संस्कृत टीका में स्पष्ट उल्लेख है।

जिसमें 'स्व' की ही अपेक्षा हो, वह निश्चयकथन है और जिसमें 'पर' की अपेक्षा आवे, वह व्यवहारकथन होता है। अतः केवली भगवान अपनी आत्मा को देखते-जानते हैं – यह निश्चयकथन हुआ और वे पर को देखते-जानते हैं – यह व्यवहारकथन हुआ; उक्त कथन का तात्पर्य मात्र इतना है। वे पर को व्यवहार से जानते हैं – इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे पर को जानते ही नहीं हैं।

नियमसार की १५९ से १६९ तक की गाथाओं और उनकी संस्कृत टीका को यदि एक बार अच्छी तरह देखलें तो सब बात सहज स्पष्ट हो जाती है। उक्त सम्पूर्ण प्रकरण भगवान की सर्वज्ञता को सिद्ध करने वाला ही है। विस्तार-भय से वह सब यहाँ देना संभव नहीं है। जिज्ञासु पाठकों से उक्त प्रकरण का गहराई से मंथन करने का सानुरोध आग्रह है।

आचार्य जयसेन प्रवचनसार गाथा १९ की तात्पर्यवृत्तिनामक टीका में लिखते हैं :-

"यथायं केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रेण जानाति तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्तिं करोति, तथा निर्मलविवेकिजनोऽपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानं करोति, तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसंवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञानं करोतीति सूत्रतात्पर्यम्।

जिसप्रकार केवली भगवान परकीय द्रव्य-पर्यायों को यद्यपि परिच्छित्ति मात्ररूप से जानते हैं, तथापि निश्चयनय से सहजानन्दरूप एकस्वभावी शुद्धात्मा में ही तन्मय होकर परिच्छित्ति करते हैं; उसीप्रकार निर्मल विवेकीजन भी यद्यपि व्यवहार से परकीय द्रव्य-गुण-पर्यायों का ज्ञान करता है, तथापि निश्चय से निर्विकार स्वसंवेदन पर्याय में ही तद्विषयक पर्याय का ही ज्ञान करता है।"

उक्त कथन के अनुसार जिस अपेक्षा से केवली भगवान मात्र अपने को जानते हैं, पर को नहीं; उस अपेक्षा से अर्थात् निश्चयनय से तो सम्यग्दृष्टि भी मात्र अपने को ही जानते हैं, पर को नहीं। अतः यदि आप सर्वज्ञ का पर को जानना असत्य मानेंगे तो फिर सम्यग्दृष्टि ज्ञानी का भी पर को जानना असत्य मानना होगा; जो कि प्रत्यक्षसिद्ध है। आशा है ज्ञानियों का पर को जानना आपको भी अस्वीकृत न होगा।

दूसरे केवली भगवान् स्वयं को तन्मय होकर जानते हैं; परन्तु पर जो जानते तो हैं, पर उनमें वे तन्मय नहीं होते। इस कारण भी उनका पर को जानना व्यवहार कहा जाता है।

परमात्मप्रकाश अध्याय १, गाथा ५२ की टीका में इसकी चर्चा अत्यन्त स्पष्ट है :-

"कश्चिदाह । यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं, न च निश्चयनयेनेति ।

परिहारमाह – यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति, तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परिज्ञानाभावात् । यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत्तन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुखदुःखरागद्वेषपरिज्ञातो सुखी-दुःखी रागी-द्वेषी च स्यादिति महद्दूषणं प्राप्नोतीति ।

प्रश्न – यदि केवली भगवान व्यवहारनय से लोकालोक को जानते हैं तो व्यवहारनय से ही उन्हें सर्वज्ञत्व भी होओ परन्तु निश्चयनय से नहीं ?

उत्तर – जिसप्रकार तन्मय होकर स्वकीय आत्मा को जानते हैं उसीप्रकार परद्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानते, इस कारण व्यवहार कहा गया है, न कि उनके परिज्ञान का ही अभाव होने के कारण । यदि स्वद्रव्य की भाँति परद्रव्य को भी निश्चय से तन्मय होकर जानते तो परकीय सुख व दुःख को जानने से स्वयं सुखी-दुःखी और परकीय राग-द्वेष को जानने से स्वयं रागी-द्वेषी हो गये होते और इसप्रकार महत् दूषण प्राप्त होता ।"

तार्किकचक्रचूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार के मंगलाचरण में श्री वर्द्धमान भगवान के केवलज्ञान में अलोकाकाश सहित तीनों लोकों के समस्त पदार्थों के स्पष्ट झलकने की चर्चा इसप्रकार करते हैं ।

"नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने,
सालोकानां त्रिलोकानाम्, यद्विद्या दर्पणायते ।

जिनके केवलज्ञानरूपी दर्पण में अलोकाकाश सहित तीनों लोक झलकते हैं और जिन्होंने ज्ञानावरणादि पापरूपी मैल को धो डाला है, उन वर्द्धमान भगवान को नमस्कार हो ।"

इसप्रकार जैन-दर्शन के सर्वमान्य दिग्गज आचार्य श्री कुन्दकुन्द, कार्तिकेय, समन्तभद्र, उमास्वामी, पूज्यपाद, वीरसेन, अमृतचन्द्र, रविषेण आदि अनेक आचार्यों के प्रबल प्रमाणों से सर्वज्ञता और त्रिकालज्ञता सहज सिद्ध है।

उपर्युक्त अनेक प्रमाण देने के बाद भी लोगों का आग्रह रहता है कि आप हमें स्पष्टरूप से बताइये कि क्रमबद्धपर्याय की बात कौनसे शास्त्र में है? पर मेरा कहना है कि ऐसा कौनसा शास्त्र है जिसमें क्रमबद्धपर्याय की बात नहीं है? चारों ही अनुयोगों के शास्त्रों में यहाँ तक कि पूजनपाठ में भी कदम-कदम पर क्रमबद्धपर्याय का स्वर मुखरित होता सुनाई देता है।

"भामण्डल की द्युति जगमगात,
भवि देखत निजभव सात-सात"[1]

तीर्थंकर भगवान के प्रभामण्डल में भव्यजीव को अपने-अपने सात-सात भव दिखाई देते हैं। उन सात भवों में तीन भूतकाल के, तीन भविष्य के एवं एक वर्त्तमान भव दिखाई देता है।

इसके अनुसार प्रत्येक भव्य के कम से कम भविष्य के तीन भव तो निश्चित रहते ही हैं, अन्यथा वे दिखाई कैसे देते? तीन भव की आयु एक साथ बंध नहीं सकती। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि आयुकर्म बंध जाने से भव निश्चित हो गए थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे पहिले से ही निश्चित रहते हैं, होते नहीं।

प्रथमानुयोग के सभी शास्त्र भविष्य की निश्चित घोषणाओं से भरे पड़े हैं।

भगवान नेमिनाथ ने द्वारका जलने की घोषणा बारह वर्ष पूर्व कर दी थी। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया था कि किस निमित्त से, कैसे और कब – यह सब-कुछ घटित होगा। अनेक उपायों के बाद भी वह सब-कुछ उसी रूप में घटित हुआ।

---

[1] कविवर वृन्दावनकृत चन्द्रप्रभ पूजन, जयमाल

हाँ, एक बात अवश्य है कि सुनने वाले लोगों में उक्त बात की प्रतिक्रिया अपने-अपने भवितव्यानुसार भिन्न-भिन्न हुई। जिनका भविष्य अच्छा था, उन्हें उक्त बात सुनकर वैराग्य हो गया। वहुतों ने नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण करली, अनेकों ने अणुव्रत धारण किये, अनेक सम्यक्ती बने; पर जिनकी अधोगति होनी थी, उन्हें भगवान की बात को टालने का विकल्प आया। वे इस प्रयत्न में जुट गये कि देखें द्वारका कैसे जलती है ? उन्होंने अपना सारा पुरुषार्थ मानो भगवान की वात को झूठा सिद्ध करने में ही लगा दिया। पर भगवान ने तो जैसा देखा-जाना था, कह दिया था; वे उसके कर्त्ता-धर्त्ता तो थे नहीं।

भगवान की वाणी में तो द्वारका जलने के उपादान के साथ-साथ निमित्तों का भी स्पष्ट उल्लेख था, पर निमित्ताधीन दृष्टि वालों का ध्यान उपादान की ओर तो गया ही नहीं, वे तो निमित्तों को हटाने में लग गये और अपनी दृष्टि में निमित्तों को हटाकर अपने को सुरक्षित भी समझने लगे पर……………।

निमित्ताधीन दृष्टि वालों को भगवान की सर्वज्ञता पर पूरा भरोसा नहीं होता, उनकी दृष्टि चंचल बनी रहती है। यह बात नहीं कि उन्हें भगवान की बात पर विश्वास ही न था, यदि विश्वास नहीं होता तो फिर वे डरते क्यों, घबराते क्यों ? उसे टालने का असफल प्रयत्न ही क्यों करते ? उन्हें विश्वास तो था, पर पक्का विश्वास नहीं था; भरोसा था, पर पूरा भरोसा नहीं था। यों ही ढुल-मुल श्रद्धा थी। जिनकी होनहार खोटी होती है, उनकी श्रद्धा सर्वज्ञ पर भी नहीं टिकती। जिनका संसार अल्प रह जाता है उन्हें ही सर्वज्ञता समझ में आती है।

भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया कि द्वारका १२ वर्ष वाद जल जावेगी तो अज्ञानियों को ऐसा लगा कि जैसे वारह वर्ष बाद भगवान द्वारका जला देंगे। जवकि भगवान को उससे कुछ लेना-देना नहीं था। वे तो वीतराग थे, उन्हें किसी से भी रंचमात्र राग-द्वेष नहीं था। अतः उनके द्वारा द्वारका जलाये जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु वे सर्वज्ञ भी थे। अतः भविष्य में कहाँ-क्या होगा उसे

इसप्रकार जैन-दर्शन के सर्वमान्य दिग्गज आचार्य श्री कुन्दकुन्द, कार्तिकेय, समन्तभद्र, उमास्वामी, पूज्यपाद, वीरसेन, अमृतचन्द्र, रविषेण आदि अनेक आचार्यों के प्रबल प्रमाणों से सर्वज्ञता और त्रिकालज्ञता सहज सिद्ध है।

उपर्युक्त अनेक प्रमाण देने के बाद भी लोगों का आग्रह रहता है कि आप हमें स्पष्टरूप से बताइये कि क्रमबद्धपर्याय की बात कौनसे शास्त्र में है? पर मेरा कहना है कि ऐसा कौनसा शास्त्र है जिसमें क्रमबद्धपर्याय की बात नहीं है? चारों ही अनुयोगों के शास्त्रों में यहाँ तक कि पूजनपाठ में भी कदम-कदम पर क्रमबद्धपर्याय का स्वर मुखरित होता सुनाई देता है।

"भामण्डल की द्युति जगमगात,
भवि देखत निजभव सात-सात"[1]

तीर्थंकर भगवान के प्रभामण्डल में भव्यजीव को अपने-अपने सात-सात भव दिखाई देते हैं। उन सात भवों में तीन भूतकाल के, तीन भविष्य के एवं एक वर्त्तमान भव दिखाई देता है।

इसके अनुसार प्रत्येक भव्य के कम से कम भविष्य के तीन भव तो निश्चित रहते ही हैं, अन्यथा वे दिखाई कैसे देते? तीन भव की आयु एक साथ बंध नहीं सकती। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि आयुकर्म बंध जाने से भव निश्चित हो गए थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे पहिले से ही निश्चित रहते हैं, होते नहीं।

प्रथमानुयोग के सभी शास्त्र भविष्य की निश्चित घोषणाओं से भरे पड़े हैं।

भगवान नेमिनाथ ने द्वारका जलने की घोषणा बारह वर्ष पूर्व कर दी थी। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया था कि किस निमित्त से, कैसे और कब – यह सब-कुछ घटित होगा। अनेक उपायों के बाद भी वह सब-कुछ उसी रूप में घटित हुआ।

---

[1] कविवर वृन्दावनकृत चन्द्रप्रभ पूजन, जयमाल

हाँ, एक बात अवश्य है कि सुनने वाले लोगों में उक्त बात की प्रतिक्रिया अपने-अपने भवितव्यानुसार भिन्न-भिन्न हुई। जिनका भविष्य अच्छा था, उन्हें उक्त बात सुनकर वैराग्य हो गया। बहुतों ने नग्न दिगम्बर दीक्षा धारण करली, अनेकों ने अणुव्रत धारण किये, अनेक सम्यक्ती बने; पर जिनकी अधोगति होनी थी, उन्हें भगवान की बात को टालने का विकल्प आया। वे इस प्रयत्न में जुट गये कि देखें द्वारका कैसे जलती है ? उन्होंने अपना सारा पुरुषार्थ मानो भगवान की बात को झूठा सिद्ध करने में ही लगा दिया। पर भगवान ने तो जैसा देखा-जाना था, कह दिया था; वे उसके कर्त्ता-धर्त्ता तो थे नहीं।

भगवान की वाणी में तो द्वारका जलने के उपादान के साथ-साथ निमित्तों का भी स्पष्ट उल्लेख था, पर निमित्ताधीन दृष्टि वालों का ध्यान उपादान की ओर तो गया ही नहीं, वे तो निमित्तों को हटाने में लग गये और अपनी दृष्टि में निमित्तों को हटाकर अपने को सुरक्षित भी समझने लगे पर...............।

निमित्ताधीन दृष्टि वालों को भगवान की सर्वज्ञता पर पूरा भरोसा नहीं होता, उनकी दृष्टि चंचल बनी रहती है। यह बात नहीं कि उन्हें भगवान की बात पर विश्वास ही न था, यदि विश्वास नहीं होता तो फिर वे डरते क्यों, घबराते क्यों ? उसे टालने का असफल प्रयत्न ही क्यों करते ? उन्हें विश्वास तो था, पर पक्का विश्वास नहीं था; भरोसा था, पर पूरा भरोसा नहीं था। यों ही ढुल-मुल श्रद्धा थी। जिनकी होनहार खोटी होती है, उनकी श्रद्धा सर्वज्ञ पर भी नहीं टिकती। जिनका संसार अल्प रह जाता है उन्हें ही सर्वज्ञता समझ में आती है।

भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया कि द्वारका १२ वर्ष बाद जल जावेगी तो अज्ञानियों को ऐसा लगा कि जैसे बारह वर्ष बाद भगवान द्वारका जला देंगे। जबकि भगवान को उससे कुछ लेना-देना नहीं था। वे तो वीतराग थे, उन्हें किसी से भी रंचमात्र राग-द्वेष नहीं था। अतः उनके द्वारा द्वारका जलाये जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु वे सर्वज्ञ भी थे। अतः भविष्य में कहाँ-क्या होगा उसे

वर्त्तमान में वर्त्तमानवत् स्पष्ट देखते-जानते थे। अतः उन्होंने उसी समय बारह वर्ष बाद द्वारका जलती हुई स्पष्ट देखी थी। उसमें बारह वर्ष बाद कैसी लपटें उठेंगी उन्हें उस समय स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। उनकी वाणी में तो सहज ही यह तथ्य उजागर हो गया था।

उन्होंने तो उसे जलाया था ही नहीं, परन्तु अन्य किसी ने भी उसे नहीं जलाया था, क्योंकि उसमें स्वयं उपादानगत ऐसी योग्यता थी कि वह स्वसमय में जल जावेगी। तथा उसका निमित्त कौन होगा – यह भी उस योग्यता में शामिल था। उसमें पर का कोई कर्त्तृत्व नहीं था, क्योंकि जिन निमित्तों से वह जली वे स्वयं भी नहीं चाहते थे कि द्वारका जले। इस उपादानगत योग्यता की ओर जगत ध्यान नहीं देता। इसीकारण जगत का सहज परिणमन उसकी समझ में नहीं आता।

भगवान आदिनाथ ने मारीचि के बारे में एक कोड़ा-कोड़ी सागर तक कब क्या घटित होने वाला है – सब-कुछ बता ही दिया था। क्या आप उसकी सत्यता में शंकित हैं? क्या वह सब-कुछ पहिले से निश्चित नहीं था? असंख्य भव पहिले यह बता दिया गया था कि वे चौबीसवें तीर्थंकर होंगे। तब तो उनके तीर्थकर प्रकृति का बन्ध भी नहीं हुआ था। क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति बंध जाने के बाद असंख्य भव नहीं हो सकते। तीर्थंकर प्रकृति को बांधने वाला तो उसी भव में, या तीसरे भव में अवश्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि कर्म बंध जाने से उनका उतना भविष्य निश्चित हो गया था।

यह सब तो यही सिद्ध करता है कि आदिनाथ के समय से ही यह निश्चित था कि वे चौबीसवें तीर्थंकर होंगे। जब चौबीसवें तीर्थंकर होने का निश्चित था तो फिर बीच के भव भी निश्चित ही थे। निश्चित थे – तभी तो जाने जा सके, और बताये भी जा सके।

तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ४, श्लोक १००२ से १०१६ तक में अष्टांग निमित्तज्ञान द्वारा भविष्य जाने जानेका स्पष्ट उल्लेख है। आचार्य भद्रबाहु ने निमित्तज्ञान के आधार पर उत्तर भारत में बारह

वर्ष के अकाल की घोषणा की थी, जो पूर्णतः सत्य उतरी। सम्राट चन्द्रगुप्त को स्वप्न आए थे, जिनके आधार पर भी भविष्य की घोषणाएँ की गई थीं।

तथा क्या करणानुयोग में यह नहीं लिखा है कि छह महीने आठ समय में छहसौ आठ जीव निगोद से निकलेंगे और इतने ही समय में इतने ही जीव मोक्ष भी जावेंगे। क्या इससे अधिक जीव निगोद से निकल सकते हैं या मोक्ष जा सकते हैं? क्या यह निश्चित नहीं है? है, तो फिर क्या इससे वस्तु की स्वतन्त्रता खण्डित नहीं होती? इतने ही जीव मोक्ष क्यों जावेंगे, इससे अधिक क्यों नहीं?

करणानुयोग में चतुर्गति के जीवों की निश्चित संख्या लिखी हुई है और वह कभी कम-बढ़ भी नहीं होती। यदि सब-कुछ निश्चित नहीं है तो फिर जीवों के पाप-पुण्यानुसार नारकियों और देवों की संख्या न्यूनाधिक होती रहनी चाहिए।

करणानुयोग में यह भी लिखा है कि जीव नित्यनिगोद से दो हजार सागर के लिए निकलता है – उसमें भी दो इन्द्रिय के इतने, तीन इन्द्रिय के इतने, चार इन्द्रिय के इतने भव धारण करता है, मनुष्य के अड़तालीस भव मिलते हैं। यह सब क्या है?

क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि चारों गतियों के जीवों की संख्या निश्चित है और प्रत्येक जीव के भव भी निश्चित हैं तथा उनका क्रम भी निश्चित है, अन्यथा सारी व्यवस्था कैसे बनेगी? कहीं तो अधिक भीड़ इकट्ठी हो जावेगी और कहीं स्थान खाली पड़े रहेंगे। पर ऐसा नहीं होता।

इस पर लोगों को लगता है कि धर्म तो दूर, क्या पुण्य-पाप करना भी हमारे हाथ में नहीं है? हम तो एकदम बंध गये।

उनसे हमारा कहना है कि शुभ और अशुभ भाव तो क्रमशः अपने आप बदलते ही रहते हैं। क्योंकि दोनों में से किसी का भी काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है, अतः प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। अनन्त प्रयत्न करने पर भी आप अन्तर्मुहूर्त से

अधिक शुभभाव में नहीं ठहर सकते, यदि शुद्ध में नहीं गये तो फिर अशुभ में आना अनिवार्य है। यह परिवर्तन निगोद में भी हुआ करता है, वहाँ भी शुभभाव होते हैं; अन्यथा वहाँ से जीव निकले ही कैसे? सैनी पंचेन्द्रिय होने का पुण्य एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीव असंज्ञी दशा में ही बाँधते हैं।

भरत चक्रवर्ती के उन पुत्रों ने, जो कि निगोद से निकलकर एकाधपर्याय को अविवक्षित करके सीधे चक्रवर्ती के पुत्र होकर उसी भव से मोक्ष गये हैं, मनुष्य भव और चक्रवर्ती के यहाँ उत्पन्न होकर चरम शरीर प्राप्त करने का पुण्य असैनी अवस्था में ही बांधा था। पर यह सब सहज क्रम से सम्पन्न हुआ था, संभव हुआ था; वहाँ बुद्धिपूर्वक कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया था।

जैसा कि कहा है :-

नित्य निगोद माँहि तैं कढ़िकर, नर परजाय पाय सुखदानी।
समकित लहि अन्तर्मुहूर्त में, केवल पाय वरी शिव रानी ॥[1]

फिर भी मैं आपसे ही जानना चाहता हूँ कि आप कौन सा पुण्यभाव करने की स्वाधीनता चाहते हैं – तीर्थंकर, चक्रवर्ती या इन्द्रादिपद प्राप्त करने का? जब तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं और वह भी एक क्षेत्र में एक साथ दो नहीं, तो क्या दो जीव एक साथ तीर्थंकर होने योग्य पुण्य-बंध कर सकते हैं? यह बात एक क्षेत्र की अपेक्षा कही गई है। यदि आप कहें ढाई द्वीप में तो एक साथ एकसौ सत्तर तीर्थंकर हो सकते हैं, तो भी मुझे कोई परेशानी नहीं। क्योंकि एकसौ सत्तर ही क्यों, दोसौ क्यों नहीं? दोसौ जीव एक साथ ऐसा पुण्य क्यों नहीं बांध सकते?

भरत क्षेत्र में जो आगामी चौबीस तीर्थंकर होने वाले हैं, उनके नामों की घोषणायें जिनागम में हो ही चुकी हैं। साथ ही उन जीवों के नाम भी घोषित हो चुके हैं, जिन्हें भावी तीर्थंकर होना है। वह सब निश्चित था तभी तो घोषित हुआ है। क्या उनके अतिरिक्त कोई अन्य जीव तीर्थंकर प्रकृति बांध सकता है? यदि नहीं, तो फिर हम सब

---

[1] कविवर भागचन्दजी कृत आध्यात्मिक पद

की तो उन्नीस कोड़ा-कोड़ी सागर की छुट्टी हो गई। और आप जानते हैं यह जीव निगोद से निकल कर त्रसपर्याय में दो हजार सागर को ही आता है। यदि इस बीच मुक्त नहीं हुआ वो फिर वहीं निगोद में चले जाना है। फिर अनंतकाल तक कोई ठिकाना नहीं।

यदि आप कहें – "न सही भरत के; ऐरावत के या विदेह के तीर्थंकर हो जावेंगे।" पर भाई साहब! जब भरत क्षेत्र के तीर्थंकरों की घोषणा हो गई, तो ऐरावत क्षेत्र व विदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों की घोषणा भी हो ही गई होगी? यहाँ के शास्त्रों में यहाँ का उल्लेख है, वहाँ के शास्त्रों में वहाँ का उल्लेख होगा? भाई! केवली के ज्ञान में तो सर्वत्र अनन्तकाल तक के होने वाले तीर्थंकरों को घोषणा हो गई है, कोई गुंजाइश नहीं है हिलने-डुलने की।

यदि कोई कहे – "न सही तीर्थंकर का पुण्य; चक्रवर्ती ही हो जावेंगे।" पर चक्रवर्ती की सीटें तो और भी कम हैं। एक क्षेत्र में जितने काल में तीर्थंकर चौबीस होते हैं, उतने ही काल में चक्रवर्ती तो बारह ही होते हैं। जब तीर्थंकरों का निश्चित है, तो चक्रवर्तियों का भी निश्चित होगा। शास्त्रों में तो उल्लेख इसलिए नहीं मिलता कि किस-किस का उल्लेख करें। तीर्थंकरों का उल्लेख करके सामान्यतः यह बता दिया कि सब-कुछ निश्चित है। यही जानना जरूरी भी है। यह जानना कोई जरूरी नहीं कि किसका क्या होगा? यदि सबका भविष्य बतावें तो याद भी किस-किस का रहेगा। हर एक को दूसरे का भविष्य जानने में रुचि भी क्या है? सब अपना-अपना ही जानना चाहते हैं।

न सही तीर्थंकर और चक्रवर्ती, पुण्य करके स्वर्ग ही चले जावेंगे। पर वहाँ भी तो सीट खाली हो, तब जाओगे न? वहाँ अकाल-मृत्यु तो होती नहीं। यदि कोई देव या इन्द्र अभी-अभी स्वर्ग में गया है, तो फिर जब तक उसकी आयु पूरी न हो जावे तब तक उस पद के योग्य पुण्य कोई अन्य जीव नहीं बांध सकता, और उनकी आयु भी तो सागरों की होती है। स्वर्गों की तो क्या बात, बिना सीट खाली हुए तो नरक में भी जगह नहीं मिलने वाली है। आपका जब का स्थान सुरक्षित (रिजर्वेशन) होगा तभी सर्वत्र स्थान मिलेगा।

जिनवाणी के उल्लेखानुसार तो बात ऐसी ही है। यह बात अलग है कि आप जिनवाणी को ही न मानें। पर उससे भी निस्तारा नहीं मिलेगा। क्योंकि फिर तो आपको बहुत-कुछ मानना छोड़ना होगा। फिर न आप आदिनाथ को मान सकेंगे, न महावीर को। चौबीस तीर्थंकर और बारह चक्रवर्ती भी मानना संभव न होगा। क्योंकि यह सब आपने आगम में पढ़कर ही तो माना है ? जब आगम ही सत्य न रहा तो फिर सब-कुछ साफ है।

आपने कल्पना भी की है कि आपने आगम के आधार पर क्या-क्या मान रखा है ? जरा विचार करके देखिए तो पता चलेगा कि फिर स्वर्ग-नरक सब गायब। वह ही रह जावेगा जो कुछ सामने दिखाई दे रहा है।

मुझे विश्वास है इतने आगे जाने के लिए आप भी तैयार न होंगे। यदि मेरी बात में कुछ दम नजर आता है तो फिर एक बार गंभीरता से विचार कीजिये।

जब अपने को प्रथमानुयोग या करणानुयोग का विशेषज्ञ कहने वाले विद्वान भी सम्पूर्ण पर्यायों के क्रमनियमित होने का विरोध करते हैं तब आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता, क्योंकि प्रथमानुयोग और करणानुयोग में तो कदम-कदम पर इसका प्रबल समर्थन किया गया है।

इसीप्रकार चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के शास्त्रों में भी सर्वत्र इसकी प्रतिध्वनि देखी जा सकती है। समयसार (आत्मख्याति) व कार्तिकेयानुप्रेक्षा के उद्धरण तो दिये ही जा चुके हैं। प्रवचनसार गाथा १०२ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में भी पर्याय के जन्मक्षण और नाशक्षण की बात आती है। उससे भी इस बात की पुष्टि होती है।

तथा प्रवचनसार की ही गाथा ९९ की टीका में विस्तारक्रम की भाँति प्रवाहक्रम (क्रमबद्धपर्याय) को भी हार का दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है, जो इसप्रकार है :—

"जैसे द्रव्य का वास्तु समग्रपने द्वारा (अखण्डता द्वारा) एक होने पर भी, विस्तारक्रम में प्रवर्त्तमान उसके जो सूक्ष्म अंश हैं, वे

प्रदेश हैं; इसीप्रकार द्रव्य की वृत्ति समग्रपने द्वारा एक होने पर भी, प्रवाहक्रम में प्रवर्त्तमान उसके जो सूक्ष्म अंश हैं, वे परिणाम हैं। जैसे विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है; उसीप्रकार प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का परस्पर व्यतिरेक है।

जैसे वे प्रदेश अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एकवास्तुपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक हैं; उसी प्रकार वे परिणाम अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एकप्रवाहपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक हैं।

और जैसे वास्तु का जो छोटे से छोटा अंश पूर्वप्रदेश के विनाश-स्वरूप है, वही (अंश) उसके बाद के प्रदेश का उत्पादस्वरूप है, तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुपने द्वारा अनुभयस्वरूप है (अर्थात् दो में से एक भी स्वरूप नहीं है); इसीप्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश पूर्वपरिणाम के विनाशस्वरूप है, वही उसके बाद के परिणाम के उत्पादस्वरूप है, तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एकप्रवाहपने द्वारा अनुभयस्वरूप है।

इसप्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणामपद्धति में (परिणामों की परम्परा में) प्रवर्त्तमान द्रव्य स्वभाव का अतिक्रम नहीं करता, इसलिये सत्त्व को त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिये – मोतियों के हार की भाँति।

जैसे – जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुए मोतियों के हार में, अपने-अपने स्थानों में प्रकाशित होते हुए समस्त मोतियों में, पीछे-पीछे के स्थानों में पीछे-पीछे के मोती प्रगट होते हैं इसलिये, और पहले-पहले के मोती प्रगट नहीं होते इसलिये, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति का रचियता सूत्र अवस्थित होने से त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।

इसीप्रकार जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) द्रव्य में, अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित (प्रगट) होते

हुए समस्त परिणामों में, पीछे-पीछे के अवसरों पर पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं इसलिये, और पहले-पहले के परिणाम नहीं प्रगट होते हैं इसलिये, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचने वाला प्रवाह अवस्थित होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ – जैसे द्रव्य के विस्तार का छोटे-से-छोटा अंश वह प्रदेश है; उसीप्रकार द्रव्य के प्रवाह का छोटे-से-छोटा अंश वह परिणाम है। प्रत्येक परिणाम स्व-काल में अपने रूप से उत्पन्न होता है, पूर्व-रूप से नष्ट होता है, और सर्व परिणामों में एकप्रवाहपना होने से प्रत्येक परिणाम उत्पाद-विनाश से रहित एकरूपध्रुव रहता है। और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में समय-भेद नहीं है, तीनों ही एक ही समय में है। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामों की परम्परा में द्रव्य स्वभाव से ही सदा रहता है, इसलिये द्रव्य स्वयं भी, मोतियों के हार की भाँति, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।"

उक्त प्रकरण में "सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिरचित एकप्रवाह" वाक्य जो कि अनेक बार आया है, ध्यान देने योग्य है। तथा मोतियों के हार के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जैसे हार में मोतियों का क्षेत्र अपने क्रम में नियमित है; उसीप्रकार झूलते हुए हार में उनके प्रगटने का काल भी नियमित है। उसीप्रकार जैसे प्रत्येक द्रव्य में जैसे उसके प्रदेश (क्षेत्र) नियमित (निश्चित) हैं; उसीप्रकार उसका कालप्रवाह भी नियमित अर्थात् निश्चित है।

यहाँ क्षेत्र के नियमितक्रम के माध्यम से काल (पर्याय) संबंधी नियमितक्रम को स्पष्ट किया गया है। क्योंकि क्षेत्र सम्बन्धी क्रमनियमितता आसानी से समझी जा सकती है।

जिसप्रकार द्रव्य को सम्पूर्ण विस्तारक्षेत्ररूप से लक्ष्य में लिया जाय तो उसका सम्पूर्ण क्षेत्र एक ही है; उसीप्रकार द्रव्य को – तीनोंकाल के परिणामों को एक साथ लक्ष्य में लेने पर उसका काल त्रैकालिक एक है। फिर भी जिसप्रकार क्षेत्र में एक नियमित प्रदेशक्रम है; उसीप्रकार काल (पर्याय) में भी पर्यायों का एक नियमित प्रवाहक्रम है।

जिसप्रकार द्रव्य के विस्तारक्रम का अंश प्रदेश है; उसीप्रकार द्रव्य के प्रवाहक्रम का अंश पर्याय है।

यद्यपि यह कथन सम्पूर्ण द्रव्यों की अपेक्षा से है पर यहाँ विस्तारक्रम को यदि आकाशद्रव्य की अपेक्षा समझें तो सुविधा रहेगी। जैसे अनन्तप्रदेशी आकाश का जो प्रदेश जहाँ स्थित है, वह वहीं रहता है, उसका स्थान परिवर्तन सम्भव नहीं है; उसीप्रकार सभी द्रव्यों में प्रदेशों का क्रमनियमित है। यही बात यहाँ मोतियों के हार के दृष्टान्त से स्पष्ट की गई है कि मोतियों के हार में जो मोती जहाँ स्थित है, उसका स्थानक्रम परिवर्तन सम्भव नहीं है।

यद्यपि आकाश अचल (निष्क्रय) द्रव्य है और जीव और पुद्गल सचल (सक्रिय) द्रव्य हैं; तथापि झूलते हुए हार की बात कहकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिसप्रकार झूलते हुए हार में भी मोतियों का स्थानक्रम नहीं बदल जाता; उसीप्रकार सक्रिय जीवों में प्रदेशों का क्रम नहीं पलटता।

जिसप्रकार आकाशादि द्रव्यों का विस्तारक्रम नियमित है; उसीप्रकार उनका प्रवाहक्रम भी नियमित है। जिसप्रकार नियमित विस्तारक्रम में फेर-फार सम्भव नहीं है; उसीप्रकार नियमित प्रवाह-क्रम में भी फेर-फार सम्भव नहीं है। जिसप्रकार प्रत्येक प्रदेश का स्व-स्थान निश्चित है; उसीप्रकार प्रत्येक परिणाम (पर्याय) का स्व-काल भी निश्चित है।

जिसप्रकार सिनेमा की रील में लम्बाई है, उस लम्बाई में जहाँ जो चित्र स्थित है, वह वहीं रहता है, उसका स्थान परिवर्तन सम्भव नहीं है; उसीप्रकार चलती हुई रील में कौनसा चित्र किस क्रम से आएगा यह भी निश्चित है, उसमें भी फेर-फार सम्भव नहीं है। आगे कौनसा चित्र आएगा – भले ही इसका ज्ञान हमें न हो, पर इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, आयगा वो वह अपने नियमितक्रम में ही।

जैसे सोपान (जीना) पर सीढ़ियों का क्षेत्र की अपेक्षा एक अपरिवर्तनीय निश्चितक्रम होता है; उसीप्रकार उन पर चढ़ने का अपरिवर्तनीय कालक्रम भी होता है। जिसप्रकार उन पर क्रम से ही चला जा सकता है; उसीप्रकार उन पर चढ़ने का कालक्रम भी है।

जिसप्रकार जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही एक जीव के भी प्रदेश हैं; उसीप्रकार तीन काल के जितने समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं। एक-एक समय की एक-एक पर्याय निश्चित है। जैसे लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु खचित है; उसीप्रकार तीनों काल के एक-एक समय में प्रत्येक द्रव्य की एक-एक पर्याय खचित है। गुणों की अपेक्षा से विचार करें तो तीनों कालों के एक-एक समय में प्रत्येक गुण की एक-एक पर्याय भी खचित है। इसप्रकार जब प्रत्येक पर्याय स्वसमय में खचित है – निश्चित है, तो फिर उसमें अदला-बदली का क्या काम शेष रह जाता है? इस सन्दर्भ में टीका में समागत यह वाक्य भी ध्यान देने योग्य है कि "प्रत्येक परिणाम अपने-अपने अवसर पर ही प्रगट होता है"।

इस सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस समय, जिस कारण से होनी है, वह तदनुसार ही होती है।

प्रसिद्ध तार्किक आचार्य समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं :–

अलंध्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृत कार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी ॥३३॥

यहाँ भगवान को सम्बोधित करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे जिनदेव! आपने यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वय से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी जो भवितव्यता, उसकी शक्ति अलंध्य है अर्थात् उसकी शक्ति को उल्लंघन नहीं किया जा सकता है; जो होना होता है, हो के ही रहता है। फिर भी यह निरीह संसारी प्राणी 'मैं इस कार्य को कर सकता हूँ' – इसप्रकार के अहंकार से पीड़ित रहता है, जबकि भवितव्यता के बिना अनेक सहकारी कारणों को मिलाकर भी कार्य सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता।

मुनिराज पद्मनन्दि लिखते हैं :–

"लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिनं कल्याणमेवात्मनः
कुर्यात्सा भवितव्यतागतवती तत्तत्र यद्रोचते।
मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान् बहून्
रागद्वेषविषोज्झितैरिति सदा सद्भिः सुखं स्थीयताम् ॥५३॥"[1]

---

[1] पद्मनन्दिपंचविंशतिका, अ० ३, श्लोक ५३

मनुष्य मन में प्रतिदिन अपने कल्याण का ही विचार करते हैं, किन्तु आई हुई भवितव्यता वही करती है, जो कि उसको रुचता है। इसलिए सज्जन पुरुष राग-द्वेषरूपी विष से रहित होते हुए मोह के प्रभाव से अतिशय विस्तार को प्राप्त होने वाले बहुत से विकल्पों को छोड़कर सदा सुखपूर्वक स्थित रहें।"

पंडितप्रवर आशाधरजी अध्यात्म-रहस्य में लिखते हैं :-

"भवितव्यतां भगवतीमवियन्तु रहन्त्वहं करोमीति।
यदि सद्गुरूपदेशव्यवसित-जिनशासनरहस्याः ।।६६।।

यदि सद्गुरु के उपदेश से जिन-शासन के रहस्य को आपने ठीक निश्चित किया है, समझा है – तो 'मैं करता हूँ' इस अहंकारपूर्ण कर्तृत्व की भावना को छोड़ो और भगवती भवितव्यता का आश्रय ग्रहण करो।"

उक्त छन्द में भवितव्यता को भगवती कहा गया है। इस छन्द की व्याख्या में पंडित श्री युगलकिशोरजी मुख्तार लिखते हैं :-

"भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में जो कार्य, जिस समय, जहाँ पर, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से होना झलका है; वह, उसी समय, वहीं पर; उसी के द्वारा, और उसी प्रकार से सम्पन्न होगा। इस भविष्य-विषयक कथन से भवितव्यता के उक्त आशय में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान में उस कार्य के साथ उसका कारण-कलाप भी झलका है, सर्वथा नियतिवाद अथवा निर्हेतुकी भवितव्यता जो कि असम्भाव्य है, उस कथन का विषय ही नहीं है। इसके सिवाय सर्वज्ञ के ज्ञानानुसार पदार्थों का परिणमन नहीं होता, किन्तु पदार्थों के परिणमनानुसार सर्वज्ञ के ज्ञान में परिणमन अथवा झलकाव होता है। ज्ञान ज्ञेयाकार है, न कि ज्ञेय ज्ञानाकार।"[1]

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने अपने मोक्षमार्गप्रकाशक में अनेक स्थानों पर इसकी चर्चा की है। उनके कतिपय कथन इसप्रकार हैं :-

---

[1] अध्यात्म-रहस्य, पृष्ठ ८३

जिसप्रकार जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं, उतने ही एक जीव के भी प्रदेश हैं; उसीप्रकार तीन काल के जितने समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं। एक-एक समय की एक-एक पर्याय निश्चित है। जैसे लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु खचित है; उसीप्रकार तीनों काल के एक-एक समय में प्रत्येक द्रव्य की एक-एक पर्याय खचित है। गुणों की अपेक्षा से विचार करें तो तीनों कालों के एक-एक समय में प्रत्येक गुण की एक-एक पर्याय भी खचित है। इसप्रकार जब प्रत्येक पर्याय स्वसमय में खचित है – निश्चित है, तो फिर उसमें अदला-बदली का क्या काम शेष रह जाता है ? इस सन्दर्भ में टीका में समागत यह वाक्य भी ध्यान देने योग्य है कि "प्रत्येक परिणाम अपने-अपने अवसर पर ही प्रगट होता है"।

इस सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस समय, जिस कारण से होनी है, वह तदनुसार ही होती है।

प्रसिद्ध तार्किक आचार्य समन्तभद्र स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं :–

अलंध्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृत कार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी ॥३३॥

यहाँ भगवान को सम्बोधित करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे जिनदेव ! आपने यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वय से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी जो भवितव्यता, उसकी शक्ति अलंध्य है अर्थात् उसकी शक्ति को उल्लंघन नहीं किया जा सकता है; जो होना होता है, हो के ही रहता है। फिर भी यह निरीह संसारी प्राणी 'मैं इस कार्य को कर सकता हूँ' – इसप्रकार के अहंकार से पीड़ित रहता है, जबकि भवितव्यता के बिना अनेक सहकारी कारणों को मिलाकर भी कार्य सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता।

मुनिराज पद्मनन्दि लिखते हैं :–

"लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिनं कल्याणमेवात्मनः
कुर्यात्सा भवितव्यतागतवती तत्तत्र यद्रोचते।
मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान् बहून्
रागद्वेषविषोज्झितैरिति सदा सद्भिः सुखं स्थीयताम् ॥५३॥"[1]

---

[1] पद्मनन्दिपंचविंशतिका, अ० ३, श्लोक ५३

मनुष्य मन में प्रतिदिन अपने कल्याण का ही विचार करते हैं, किन्तु आई हुई भवितव्यता वही करती है, जो कि उसको रुचता है। इसलिए सज्जन पुरुष राग-द्वेषरूपी विष से रहित होते हुए मोह के प्रभाव से अतिशय विस्तार को प्राप्त होने वाले बहुत से विकल्पों को छोड़कर सदा सुखपूर्वक स्थित रहें।"

पंडितप्रवर आशाधरजी अध्यात्म-रहस्य में लिखते हैं :–

"भवितव्यतां भगवतीमधियन्तु रहन्त्वहं करोमीति।
यदि सद्गुरूपदेशव्यवसित-जिनशासनरहस्याः ॥६६॥

यदि सद्गुरु के उपदेश से जिन-शासन के रहस्य को आपने ठीक निश्चित किया है, समझा है – तो 'मैं करता हूँ' इस अहंकारपूर्ण कर्तृत्व की भावना को छोड़ो और भगवती भवितव्यता का आश्रय ग्रहण करो।"

उक्त छन्द में भवितव्यता को भगवती कहा गया है। इस छन्द की व्याख्या में पंडित श्री युगलकिशोरजी मुख्तार लिखते हैं :–

"भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में जो कार्य, जिस समय, जहाँ पर, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से होना झलका है; वह, उसी समय, वहीं पर; उसी के द्वारा, और उसी प्रकार से सम्पन्न होगा। इस भविष्य-विषयक कथन से भवितव्यता के उक्त आशय में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान में उस कार्य के साथ उसका कारण-कलाप भी झलका है, सर्वथा नियतिवाद अथवा निर्हेतुकी भवितव्यता जो कि असम्भाव्य है, उस कथन का विषय ही नहीं है। इसके सिवाय सर्वज्ञ के ज्ञानानुसार पदार्थों का परिणमन नहीं होता, किन्तु पदार्थों के परिणमनानुसार सर्वज्ञ के ज्ञान में परिणमन अथवा झलकाव होता है। ज्ञान ज्ञेयाकार है, न कि ज्ञेय ज्ञानाकार।"[1]

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने अपने मोक्षमार्गप्रकाशक में अनेक स्थानों पर इसकी चर्चा की है। उनके कतिपय कथन इसप्रकार हैं :–

---

[1] अध्यात्म-रहस्य, पृष्ठ ८३

"इसप्रकार क्रोध से बुरा चाहने की इच्छा तो हो, (पर) बुरा होना भवितव्य के आधीन है।.........इसप्रकार मान से अपनी महंतता की इच्छा तो हो, (पर) महंतता होना भवितव्य के आधीन है।......... इसप्रकार माया से इष्टसिद्धि के अर्थ छल तो करे, परन्तु इष्टसिद्धि होना भवितव्य के आधीन है।.........इसप्रकार लोभ से इष्टप्राप्ति की इच्छा तो हो, परन्तु इष्टप्राप्ति होना भवितव्य के आधीन है।"[1]

कषायपाहुड़ व धवल में भी कहा है :-

"प्रश्न – इन (छयासठ) दिनों में दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति किसलिए नहीं हुई ?

उत्तर – गणधर का अभाव होने के कारण।

प्रश्न – सौधर्म इन्द्र ने उसी समय गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया ?

उत्तर – नहीं किया, क्योंकि काललब्धि के बिना असहाय सौधर्म इन्द्र के, उनको उपस्थित करने की शक्ति का उस समय अभाव था।"[2]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा के उल्लिखित उद्धरण में तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जिसका जो परिणमन जिस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार होना जिनेन्द्रदेव ने देखा है, उसे इन्द्र तो क्या स्वयं जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते हैं।

इस पर कई लोग कहते हैं कि यह तो बिल्कुल ठीक है कि जिनेन्द्रदेव नहीं टाल सकते, क्योंकि जैनमान्यतानुसार जिनेन्द्र भगवान जगत के मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं; पर भगवान नहीं टाल सकते तो क्या हम भी नहीं टाल सकते हैं ? यदि हम भी नहीं टाल सकते तो फिर तो हम भगवान के ज्ञान के आधीन हो गये। जैसा उन्होंने जान लिया, हमें वैसा ही करना होगा; अथवा हमारा परिणमन वैसा ही होगा, जैसा कि भगवान ने जाना है।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३६

[2] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ६१४

उनका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु का परिणमन भगवान के ज्ञान के आधीन नहीं है। जिस रूप में वस्तु स्वयं परिणमित हुई थी, हो रही है, और होगी; भगवान ने तो उसे उस रूप में मात्र जाना है। ज्ञान तो पर को मात्र जानता है, परिणमाता नहीं।

जिसप्रकार ज्ञान के आधीन वस्तु नहीं, इसीप्रकार वस्तु के आधीन ज्ञान भी नहीं है। दोनों का स्वतंत्र परिणमन अपने-अपने कारण से होता है।

मेरी समझ में यह नहीं आता कि ज्ञान के द्वारा जान लेने मात्र से वस्तु की स्वतंत्रता किसप्रकार खण्डित हो जाती है। स्वतंत्रता ज्ञान से नहीं, अपने अज्ञान से खण्डित होती है। ज्ञान तो वस्तु के परिणमन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप किए बिना मात्र उसको जानता है।

दूसरे यह कहना कितना हास्यास्पद है कि जो भगवान ने जाना है, उसमें वे स्वयं भले ही कोई परिवर्तन न कर सकें, पर मैं तो कर सकता हूँ। यह भगवान से भी बड़ा हो गया। जो कार्य अनन्तवीर्य के धनी भगवान भी न कर सकते हों, वह कार्य यह अल्पवीर्यवान होकर भी कर दिखाना चाहता है।

इस पर यदि कोई कहे कि भगवान तो वीतरागी और सर्वज्ञ हैं; वीतरागी होने से उन्हें कुछ भी करने की आकांक्षा नहीं है और सर्वज्ञ होने से जो कुछ जैसा होना है वह सब वे जानते हैं; अतः उन्हें कुछ फेर-फार करने का विकल्प नहीं उठता। पर हम तो रागी-द्वेषी और अल्पज्ञ हैं; न तो हम भविष्य को जानते ही हैं, और हमें कुछ कर दिखाने की तमन्ना भी है, अतः हमारी तुलना वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान से क्यों करते हो ?

उससे कहते हैं कि यहाँ आचार्यदेव ने 'भगवान पर के कर्त्ता नहीं हैं' मात्र इतनी बात नहीं कही, अपितु 'इन्दो वा' शब्द द्वारा इन्द्र भी नहीं कर सकता अर्थात् कोई भी नहीं कर सकता है - वाली बात भी कही है।

"इसप्रकार क्रोध से बुरा चाहने की इच्छा तो हो, (पर) बुरा होना भवितव्य के आधीन है।.........इसप्रकार मान से अपनी महंतता की इच्छा तो हो, (पर) महंतता होना भवितव्य के आधीन है।......... इसप्रकार माया से इष्टसिद्धि के अर्थ छल तो करे, परन्तु इष्टसिद्धि होना भवितव्य के आधीन है।.........इसप्रकार लोभ से इष्टप्राप्ति की इच्छा तो हो, परन्तु इष्टप्राप्ति होना भवितव्य के आधीन है।"[1]

कषायपाहुड़ व धवल में भी कहा है :-

"प्रश्न – इन (छयासठ) दिनों में दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति किसलिए नहीं हुई ?

उत्तर – गणधर का अभाव होने के कारण।

प्रश्न – सौधर्म इन्द्र ने उसी समय गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया ?

उत्तर – नहीं किया, क्योंकि काललब्धि के बिना असहाय सौधर्म इन्द्र के, उनको उपस्थित करने की शक्ति का उस समय अभाव था।"[2]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा के उल्लिखित उद्धरण में तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जिसका जो परिणमन जिस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार होना जिनेन्द्रदेव ने देखा है, उसे इन्द्र तो क्या स्वयं जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते हैं।

इस पर कई लोग कहते हैं कि यह तो बिल्कुल ठीक है कि जिनेन्द्रदेव नहीं टाल सकते, क्योंकि जैनमान्यतानुसार जिनेन्द्र भगवान जगत के मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं, कर्त्ता-धर्त्ता नहीं; पर भगवान नहीं टाल सकते तो क्या हम भी नहीं टाल सकते हैं ? यदि हम भी नहीं टाल सकते तो फिर तो हम भगवान के ज्ञान के आधीन हो गये। जैसा उन्होंने जान लिया, हमें वैसा ही करना होगा; अथवा हमारा परिणमन वैसा ही होगा, जैसा कि भगवान ने जाना है।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३९

[2] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ६१४

उनका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु का परिणमन भगवान के ज्ञान के आधीन नहीं है। जिस रूप में वस्तु स्वयं परिणमित हुई थी, हो रही है, और होगी; भगवान ने तो उसको उस रूप में मात्र जाना है। ज्ञान तो पर को मात्र जानता है, परिणमाता नहीं।

जिसप्रकार ज्ञान के आधीन वस्तु नहीं, उसीप्रकार वस्तु के आधीन ज्ञान भी नहीं है। दोनों का स्वतंत्र परिणमन अपने-अपने कारण से होता है।

मेरी समझ में यह नहीं आता कि ज्ञान के द्वारा जान लेने मात्र से वस्तु की स्वतंत्रता किसप्रकार खण्डित हो जाती है। स्वतंत्रता ज्ञान से नहीं, अपने अज्ञान से खण्डित होती है। ज्ञान तो वस्तु के परिणमन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप किए विना मात्र उसको जानता है।

दूसरे यह कहना कितना हास्यास्पद है कि जो भगवान ने जाना है, उसमें वे स्वयं भले ही कोई परिवर्तन न कर सकें, पर मैं तो कर सकता हूँ। यह भगवान से भी बड़ा हो गया। जो कार्य अनन्तवीर्य के धनी भगवान भी न कर सकते हों, वह कार्य यह अल्पवीर्यवान होकर भी कर दिखाना चाहता है।

इस पर यदि कोई कहे कि भगवान तो वीतरागी और सर्वज्ञ हैं; वीतरागी होने से उन्हें कुछ भी करने की आकांक्षा नहीं है और सर्वज्ञ होने से जो कुछ जैसा होना है वह सब वे जानते हैं; अतः उन्हें कुछ फेर-फार करने का विकल्प नहीं उठता। पर हम तो रागी-द्वेषी और अल्पज्ञ हैं; न तो हम भविष्य को जानते ही हैं, और हमें कुछ कर दिखाने की तमन्ना भी है, अतः हमारी तुलना वीतरागी-सर्वज्ञ भगवान से क्यों करते हो?

उससे कहते हैं कि यहाँ आचार्यदेव ने 'भगवान पर के कर्त्ता नहीं हैं' मात्र इतनी बात नहीं कही, अपितु 'इन्दो वा' शब्द द्वारा इन्द्र भी नहीं कर सकता अर्थात् कोई भी नहीं कर सकता है—वाली बात भी कही है।

जिनेन्द्र नहीं कर सकते अर्थात् सर्वज्ञ और वीतरागी नहीं कर सकते और इन्द्र नहीं कर सकते अर्थात् रागी और अल्पज्ञ नहीं कर सकते। 'जिनेन्द्र' के सामने 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग कर आचार्य सभी अल्पज्ञों और रागियों की बात करते हैं, क्योंकि रागियों और अल्पज्ञों में इन्द्र ही सर्वशक्तिशाली है। उक्त शंका के समाधान के लिए ही 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। पर इस अज्ञानी जगत को भगवान की नहीं, अपनी चिन्ता है। इसीलिए तो कहता है भले ही भगवान न कर सकें, पर मैं तो कर सकता हूँ।

क्रमबद्धपर्याय के पोषक उक्त कथन का उद्देश्य ही पर-कर्तृत्व का निषेध है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं है – यह मान्यता ही जैनदर्शन का मूलाधार (रीढ़) है।

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्त्ता स्वयं है। परिणमन उसका धर्म है। अपने परिणमन में उसे परद्रव्य की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। नित्यता की भाँति परिणमन भी उसका सहज स्वभाव है। अथवा पर्याय की कर्त्ता स्वयं पर्याय है। उसमें तुझे कुछ भी नहीं करना है, अर्थात् कुछ भी करने की चिन्ता नहीं करना है। अजीव-द्रव्य पर में तो कुछ करते ही नहीं, अपनी पर्यायों को करने की भी चिन्ता नहीं करते, तो क्या उनका परिणमन अवरुद्ध हो जाता है? नहीं; तो फिर जीव भी क्यों परिणमन की चिन्ता में व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो?

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय के कर्त्तृत्व में अथवा वह पर्याय ही अपने परिणमन में पूर्ण समर्थ है। हे आत्मन्! तुझे उसमें कुछ भी नहीं करना है, तू व्यर्थ ही उसकी चिन्ता में अपना भव बिगाड़ रहा है। जिस द्रव्य अथवा पर्याय के परिणमन की चिन्ता तू अपने सिर पर लिए घूम रहा है, झूम रहा है, उसे तेरी अथवा तेरे सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है, परवाह नहीं है; तू बलिष्ठ बैलों द्वारा खींची जाने वाली गाड़ी के नीचे-नीचे चलकर 'मैं ही गाड़ी खींच रहा हूँ' इस अभिमान से ग्रस्त कुत्ते की भाँति आकुल-व्याकुल हो रहा है।

वस्तुस्वरूप तुझे विश्वास दिलाता है कि तू जगत की ओर से निश्चिन्त रह, पर पर-कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त यह कहता है कि बेटा दुकान संभाल ले तो मैं निश्चिन्त हो सकता हूँ। जब-तक जो काम मैं करता हूँ वह काम दूसरा न करने लग जाय, तब-तक मैं कैसे निश्चिन्त हो सकता हूँ ? पर मैं कहता हूँ कि 'क्रमबद्धपर्याय' को छोड़कर आज तक कोई ऐसा बेटा पैदा नहीं हुआ है जो कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त बाप को पूरा निश्चिन्त कर दे। क्रमबद्धपर्याय ही एक ऐसी है कि जो उसे समझे, उस पर श्रद्धा करे, तो निश्चिन्त हो सकता है।

कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त व्यक्ति की समस्या ही यह है कि कोई उसका काम संभाले, तो वह निश्चिन्त हो। यह उसकी समझ में ही नहीं आता कि वह पर का या पर्याय का कुछ करता ही नहीं, अज्ञान के कारण मात्र उनकी चिन्ता करता है। और चिन्ता का कर्त्ता भी तभी तक है जब तक अज्ञान है।

जैनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन कहा जाता है। अकर्त्तावाद का अर्थ मात्र इतना ही नहीं है कि इस जगत का कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है, अपितु यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। ज्ञानी आत्मा तो अपने विकार का भी कर्त्ता नहीं होता। यह बात समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार एवं सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में विस्तार से स्पष्ट की गई है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की जिन गाथाओं की टीका में क्रमनियमितपर्याय का उल्लेख आया है, उनमें अन्ततः अकर्तृत्व ही सिद्ध किया है। जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है :—

"एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्; तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिध्यति, तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिध्यति। अतो जीवोऽकर्त्ता अवतिष्ठते।

इसप्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व

द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है; उसके (कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर, अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता; और उसके (अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्त्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया (अन्य द्रव्य से निरपेक्षतया स्वद्रव्य में ही) सिद्धि होने से जीव के अजीव का कर्त्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसलिए जीव अकर्त्ता सिद्ध होता है।

भावार्थ – सर्व द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्त्ता हैं; वे उन परिणामों के कर्त्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसी का किसी के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। इसलिए जीव अपने ही परिणामों का कर्त्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार अजीव अपने परिणामों का ही कर्त्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार जीव दूसरे के परिणामों का अकर्त्ता है।"[1]

इसपर कोई कहे न सही पर के परिणमन का कर्त्ता, पर अपने परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता तो मैं हूँ ही। उससे कहते हैं कि अवश्य हो, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति का कर्त्ता-भोक्ता तो है ही, पर इसका आशय यह नहीं कि सर्वज्ञ के ज्ञान में आपका जो भावी परिणमन झलका है, आप उसमें कुछ फेर-फार कर सकते हैं।

यदि फेर-फार नहीं कर सकते तो फिर मैं अपनी परिणति का कर्त्ता ही क्या रहा – इसप्रकार की शंका भी जगत को होती है, क्योंकि जिसनें फेर-फार करने को ही करना मान रखा है, वह इससे आगे सोच ही क्या सकता है? क्या फेर-फार करने के बिना कोई करना होता ही नहीं है? क्या जैसा होना नहीं हो, वैसा करना ही करना है; जैसा होना हो, वैसा करना करना नहीं है क्या?

स्वकर्त्तृत्व कहो, सहजकर्त्तृत्व कहो, अकर्त्तृत्व कहो – सबका एक ही अर्थ है। जैन-दर्शन अकर्त्तावादी दर्शन है – इसका भाव ही यही है कि सहजकर्त्तावादी या स्वकर्त्तावादी है, परकर्त्तावादी या फेर-फार

[1] समयसार गाथा ३०८ से ३११ की टीका व भावार्थ

कर्त्तावादी नहीं है। सहज होना और करना एक ही बात है। भविष्य में हमारा जो होना है, वही होगा अर्थात् हम पुरुषार्थपूर्वक वही करेंगे। इसमें पुरुषार्थ की कहीं कोई उपेक्षा नहीं है, कहीं कोई पराधीनता नहीं है, सर्वत्र स्वाधीनता का साम्राज्य है। इसमें सभी कुछ है – स्वभाव है, पुरुषार्थ है, भवितव्य है, काललब्धि है, और निमित्त भी है – पांचों ही समवाय उपस्थित हैं।

आत्मा अपने परिणामों का कर्त्ता है या नहीं? इस संदर्भ में पू० स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है :–

"प्रश्न :– पर्यायें क्रमबद्ध हैं; आत्मा की पर्यायें भी क्रमबद्ध जो होने योग्य हैं वही होती हैं; इसलिए आत्मा उनका अकर्त्ता है – (क्या) यह बात ठीक है?

उत्तर :– नहीं; आत्मा अपनी पर्याय का अकर्त्ता है – यह बात ठीक नहीं है। आत्मा अपनी जिन-जिन क्रमबद्धपर्यायोंरूप से परिणमित होता है उनका कर्त्ता वह स्वयं ही है; परन्तु यहाँ इतना विशेष समझने योग्य है कि 'आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है' – ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है अथवा क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुआ है, वह जीव मिथ्यात्वादि भावोंरूप से परिणमित होता ही नहीं। इसलिए मिथ्यात्वादि भावों का तो वह अकर्त्ता ही है तथा जो अल्परागादि विकार होता है, उसमें भी वह एकत्वरूप से परिणमित नहीं होता। उस अपेक्षा से वह रागादि का भी अकर्त्ता है; किन्तु अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि निर्मल 'क्रमबद्धपरिणामों' का तो वह कर्त्ता है।

'क्रमबद्धपरिणाम' का ऐसा अर्थ नहीं है कि आत्मा स्वयं कर्त्ता बिना हुये ही वह परिणाम हो जाता है। ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञानभाव को करता हुआ स्वयं उसका कर्त्ता होता है और अज्ञानी अपने अज्ञानभाव को करता हुआ उसका कर्त्ता होता है।

इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपने 'क्रमबद्धपरिणाम' का कर्त्ता है।"[1]

---

[1] आत्मधर्म, मार्च १९७०, पृष्ठ ५०२

इसी बात को यदि वस्तुस्वरूप की ओर से विचार करें तब भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे, क्योंकि नित्यता के समान परिणमन भी प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, उसके होने में पर के सहयोग की क्या आवश्यकता है ? यदि द्रव्य को अपने परिणमन में पर की अपेक्षा हो तो फिर वह उसका स्वभाव ही क्या रहा ? द्रव्य शब्द ही द्रवणशीलता – परिणमनशीलता का द्योतक है। जो स्वयं द्रवे – परिणमे, उसे ही द्रव्य कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में एक द्रव्यत्व नाम का सामान्यगुण है – शक्ति है। उसके कारण ही द्रव्य परिणमनशील है। परिणमनशीलता द्रव्य का सामान्यधर्म है, सहजधर्म है, स्वाभाविकधर्म है, परनिरपेक्षधर्म है।

जब प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने से द्रव रहा है, अपने नियमित प्रवाह में बह रहा है, सहज क्रमबद्ध परिणम रहा है; तो फिर ऐसी क्या आवश्यकता है कि वह अपने क्रम को भंग करे ? वस्तु के स्वरूप में ऐसा क्या व्यवधान है कि वह अपनी चाल बदले ? और क्यों बदले ? उसे क्या जरूरत है अपनी चाल बदलने की ?

बदले भी कैसे ? जबकि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय स्व-अवसर पर ही होती है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं और एक-एक पर्याय एक-एक समय में खचित है। यदि एक पर्याय को अपने स्थान (समय) से हटाया जाएगा तो वह स्थान (समय) रिक्त हो जाएगा। उस स्थान (समय) की पूर्ति हेतु दूसरी पर्याय कहाँ से आवेगी ? जिस इष्ट पर्याय को आप लाना चाहते हैं, यदि उसे अपने स्थान (समय) से हटाकर वहाँ लाऐंगे तो क्या यहाँ की पर्याय वहाँ ले जावेंगे ? जो कि सम्भव नहीं।

आखिर वस्तुस्वरूप की सहज स्वीकृति क्यों नहीं, बलात् परिवर्तन का हठ क्यों ? धर्म तो वस्तुस्वरूप की सहज स्वीकृति का नाम है। वस्तुस्वरूप की सहज परिणति की स्वीकृति ही धर्म का आरम्भ है। ऐसे व्यक्ति की दृष्टि सहज अन्तरोन्मुखी होती है। क्रमबद्ध परिणमन की सहज स्वीकृति वाले जीव की क्रमबद्ध में भी

सहज स्वभाव-सन्मुख परिणमन होता है। वस्तुस्वरूप में ही ऐसा सुव्यवस्थित सुमेल है।

द्रव्य और गुण के समान पर्याय भी सत् है। प्रवचनसार गाथा १०७ में इसका स्पष्ट उल्लेख है। द्रव्य और गुण यदि त्रिकालीसत् है तो पर्याय स्वसमय अर्थात् एकसमय की सत् है। जिसप्रकार द्रव्य और गुण की त्रिकालसत्ता को चुनौती (चैलेन्ज) नहीं दी जा सकती; उसीप्रकार पर्याय की भी स्वसमय सत्ता को चुनौती नहीं दी जा सकती।

किन्तु द्रव्य और गुणों से बेखबर अज्ञानी की दृष्टि पर्याय पर रहती है, पर्याय के फेर-फार करने के विकल्प में ही उलझी रहती है। इसी उलझाव के कारण उसकी दृष्टि स्वद्रव्य पर नही जा पाती, वह द्रव्यदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि नहीं बन पाता।

आगम में 'पज्जयमूढा हि परसमया'[1] तथा 'जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा'[2] कहकर पर्यायदृष्टिवंत को मिथ्यादृष्टि और द्रव्यदृष्टिवंत को सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

द्रव्यदृष्टि प्राप्त करने के लिए पर्यायों की क्रमबद्धता की प्रतीति आवश्यक है। पर्याय भी स्वकाल की सत् है, उसमें भी किसी प्रकार का फेर-फार सम्भव नहीं – ऐसी प्रतीति होते ही पर्याय की ओर से निश्चिन्त दृष्टि स्वभाव की ओर ढुल जाती है।

क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति बिना दृष्टि का स्वभाव-सन्मुख होना सम्भव नहीं है; क्योंकि पर्यायों में अपनी इच्छानुकूल फेर-फार करने का भार उस पर बना रहता है। फेर-फार करने के भार से बोझिल दृष्टि में यह सामर्थ्य नहीं कि वह स्वभाव की ओर देख सके। दृष्टि के सम्पूर्णतः निर्भार हुए बिना अन्तर-प्रवेश सम्भव नहीं।

कहा भी है :–

> जिनके माथे भार, वे डूबे मझधार में।
> हम तो उतरे पार, झोंक भार को भार में॥

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ९३

[2] वही, गाथा ९४

भार लेकर ऊपर चढ़ना कठिन ही नहीं, असम्भव है; विशेपकर ऐसा भार जिसके उठाने की भी सामर्थ्य हमारे में न हो। क्या कोई पर्वत को लेकर पर्वत पर चढ़ सकता है? नहीं, कदापि नहीं। उसीप्रकार परद्रव्य में फेर-फार करने की बुद्धिवाला व्यक्ति निजद्रव्य में प्रवेश नहीं कर सकता।

यद्यपि स्वयं परिणामनशील इस जगत के परिणमन का रंचमात्र भी उत्तरदायित्व इसके माथे पर नहीं है, तथापि अज्ञानी आत्मा स्वयं की मिथ्या कल्पना के आरोपित भार से स्वयं ही दबा जारहा है।

पर में तो इसे कुछ करना ही नहीं है, अपनी पर्याय में भी कुछ नहीं करना है। सब-कुछ सहज हो रहा है और होता रहेगा।

कहा भी है :–

"होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।"

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि न सही पर का, पर अपना काम तो करना ही होगा। यदि हम अपना ही काम न करेंगे तो कौन कर जायेगा हमारा काम? खाना-पीना, उठना-बैठना तो करना ही होगा, और यह सब सोच-समझ कर करना होगा, नहीं तो सब-कुछ गड़बड़ा जायगा, स्वास्थ्य चौपट हो जायगा।

उससे कहते हैं कि जरा विचार तो कर जब तू माँ के पेट में था, तब सोच-समझकर क्या-क्या करता था? इसीप्रकार जब माह-दो-माह का था, तब भी सोच-समझकर क्या करता था? फिर भी इतना बड़ा हो गया। और अब बहुत समझदार हो गया है, खूब सोच-समझकर खाता-पीता उठता-बैठता है, फिर भी निरन्तर कमजोर क्यों होता जाता है? अब संभाल ले न इस शरीर को अच्छी तरह, कहीं यह यहीं न छूट जाये और तू इसे यहीं छोड़कर चलता बने। पूरी तरह संभाल के रखते-रखते भी एक दिन यही होगा कि यह यहीं पड़ा रहेगा और तुझे इसे छोड़कर जाना होगा। फिर भी इसमें तुझसे कर्त्तृत्व का अभिमान नहीं छूटता।

इस शरीर पर तेरा रंचमात्र भी तो वश नहीं चलता। ये तेरे बाल काले से सफेद तेरे से पूछ कर हुए होंगे, चेहरे पर जो झुर्रियाँ दिखाई दे रही हैं, वे भी तेरी स्वीकृति से पड़ी होंगी ?

यदि नहीं, तो फिर यह क्यों नहीं स्वीकार करता कि 'होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम'। शरीर भी तो पर है, जिस पर तू अपना कर्तृत्व थोप रहा है।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि जानना-देखना तो आत्मा का स्वभाव है, वह तो करना ही पड़ेगा। उनसे हमारा कहना है कि उसमें करना क्या पड़ेगा ? वह भी तो सहज होता है।

क्या जाने और क्या न जाने – इसका विवेक तो करना ही पड़ेगा ? ऐसा थोड़े ही चलेगा कि चाहे जो जानते-देखते रहो। कुछ तो मर्यादित होना ही पड़ेगा, कुछ तो तय करना होगा। क्या हम अपने ज्ञान-दर्शन को ऐसा ही छुट्टा छोड़ दें – सांड जैसा; जो चाहे जहाँ मुँह मारता फिरे; कम से कम उसे तो स्वभाव-सन्मुख करना ही पड़ेगा। यह सब कैसे चलेगा कि कुछ नहीं करना है, कुछ नहीं करना है ? 'ज्ञान को स्वभाव-सन्मुख करो' – कम से कम इतनी बात तो रहने दो।

यदि ऐसा कोई कहे तो उससे कहते हैं – भाई ! ज्ञान को स्वभाव-सन्मुख करने के विकल्प से ज्ञान स्वभाव-सन्मुख नहीं होता, अपितु इस विकल्प के भी भार से निर्भार होने पर ज्ञान स्वभाव-सन्मुख ढलता है।

ज्ञान की प्रत्येक पर्याय स्वकार्य करने में पर-मुखापेक्षी नहीं है। वह अपने में परिपूर्ण है, स्वकार्य करने में पूर्ण सक्षम है, पूर्ण सुयोग्य है। उसकी योग्यता में उसका ज्ञेय भी निश्चित है। ज्ञान की जिस पर्याय में जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता है, वह पर्याय उसी ज्ञेय को अपना विषय बनायेगी, उसमें किसी का कोई हस्तक्षेप नहीं चल सकता।

यह एक [illegible] है कि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान नहीं होता, अपितु ज्ञान के अनुसार ज्ञेय जाना जाता है; अन्यथा ऐसा क्यों होता है कि जो ज्ञेय सामने हैं, उनका तो ज्ञान नहीं होता और जो ज्ञेय सामने

नहीं है – क्षेत्र-काल से दूर है, उसका ज्ञान होता दिखाई देता है। नवविवाहित ऑफीसर को सामने बैठा क्लर्क दिखाई नहीं देता, अपितु ऑफिस से दूर घर में या पीहर में बैठी हुई पत्नी दिखाई देती है।

इसीप्रकार का एक श्लोक प्रमेयरत्नमाला में आता है :–

"पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रदुर्भेद्ये।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम् ।।[1]

कारागार में बन्द कोई कामी कहता है कि यद्यपि कारागार का द्वार बन्द है और अन्धकार इतना सघन है कि सुई के अग्रभाग (नोक) से भी नहीं भेदा जा सकता है तथा मैंने अपने दोनों नेत्र बन्द कर रखे हैं, तथापि मुझे अपनी प्रिया का मुख स्पष्ट दिखाई दे रहा है।"

इससे यह सिद्ध है कि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान नहीं होता, अपितु ज्ञान के अनुसार ज्ञेय जाना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि क्षयोपशम ज्ञान में जिस समय जिस ज्ञेय को जानने की योग्यता होती है, उस समय वही ज्ञेय ज्ञान का विषय बनता है, अन्य नहीं।

इस बात को न्यायशास्त्र के निम्नलिखित सूत्र से भलीप्रकार समझा जा सकता है :–

"स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।।९।।[2]

स्वावरणक्षयोपशम है लक्षण जिसका – ऐसी योग्यता ही यह व्यवस्था करती है कि ज्ञान किसको जाने।"

यहाँ क्षयोपशम ज्ञान किसको जाने और किसको न जाने – इसकी चर्चा चल रही है। केवलज्ञान में तो यह प्रश्न ही सम्भव नहीं है, क्योंकि वह तो एकसमय में ही लोकालोक को जानता है।

---

[1] आचार्य अनंतवीर्य : प्रमेयरत्नमाला, अ० २, सूत्र १२ की टीका
[2] आचार्य माणिक्यनंदि : परीक्षामुख, अ० २, सूत्र ९

बौद्धों का यह कहना है कि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है, ज्ञेयाकार होता है, और ज्ञेयों को जानने-वाला होता है; जिसे वे तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसाय के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जैनों को उक्त बात स्वीकार नहीं है।

इस सन्दर्भ में वे जैनों से पूछते हैं कि यदि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न नहीं होता तो फिर तुम्हारे यहाँ ज्ञान अमुक ज्ञेय को ही क्यों जाने, अन्य को क्यों नहीं – इसका नियामक कौन होगा ? बौद्धों के यहाँ तो जो ज्ञान जिस ज्ञेय से उत्पन्न होता है, उसी को जानता है – यह व्यवस्था है। जैनों में इस सन्दर्भ में क्या व्यवस्था है, इसके उत्तर में उक्त सूत्र आया है। जिसका आशय है कि योग्यता ही इसकी नियामक है अर्थात् ज्ञान की विवक्षित पर्याय में जानने की क्षमता के साथ-साथ यह भी निश्चित है कि वह किस ज्ञेय को जानेगी।

योग्यता को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि तत्सम्बन्धी आवरण का क्षयोपशम है लक्षण जिसका ऐसी योग्यता। अर्थात् उस योग्यता में जिस ज्ञेय को जानना है, तत्सम्बन्धी आवरण का क्षयोपशम होता है।

इस सबसे यही सिद्ध होता है कि ज्ञान की प्रत्येक पर्याय का ज्ञेय भी निश्चित है और वह उसकी योग्यता में ही सम्मिलित है। जब ज्ञान का ज्ञेय भी निश्चित है तो फिर यह बात कहाँ रह जाती है कि क्या जाने और क्या न जाने – इसका विवेक तो करना ही होगा, इस दिशा में कुछ न कुछ तो करना ही होगा।

तुझे इतना भी भार अपने माथे पर नहीं रखना है, तब निर्भार होगा और तभी ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय आत्मस्वभाव बनेगा अर्थात् दृष्टि स्वभाव-सन्मुख होगी। दृष्टि के स्वभाव-सन्मुख होने का एकमात्र उपाय यही है।

इसप्रकार के प्रश्न तो अनेक उठते हैं। उन सब पर आगे चल कर पृथक् से विचार किया जाएगा।

प्रत्येक द्रव्य पर्वत (अचल) है। उसे चलायमान करने का प्रयत्न करना बालचेष्टा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि द्रव्य पर्वत (अचल) है तो पर्याय भी पार्वती (अचला) है। जिसप्रकार अचल द्रव्य को चलायमान नहीं किया जा सकता है, उसीप्रकार अचला पर्याय को भी स्वकाल से चलायमान करना सम्भव नहीं है।

एक समय की भी पर्याय को बदलने के लिए अर्थात् उसे स्वसमय से हटाने और उसके स्थान पर दूसरी पर्याय लाने के लिए यदि सारा जगत भी एक साथ यत्न करे तो भी वह सफल नहीं होगा, वह उस पर्याय को स्वस्थान से हटा नहीं सकेगा। द्रव्यस्वभाव तो अनन्तशक्तिशाली है ही, पर पर्यायस्वभाव में भी अपनी सीमा को सुरक्षित रखने की अनन्त सामर्थ्य है, कोई उसकी सीमा में प्रवेश नहीं कर सकता। उसमें फेर-फार करने की बुद्धि वाले जगत को अन्ततः हार ही हाथ लगेगी।

द्रव्य यदि त्रिकाल सत् है तो पर्याय भी स्वकाल की सत् है अर्थात् सती है। इतिहास और पुराण इसके साक्षी हैं कि सती का सत् (सतीत्व) लूटने वाले कभी सफल नहीं हुए हैं, अपितु उन्हें अपने उस अक्षम्य अपराध का कठोरतम दण्ड भुगतना पड़ा है। ध्यान रहे सती पर्याय से छेड़-छाड़ करने अर्थात् उसे बदलने की वृत्तिवाले अपराधियों को भी उसका दण्ड भोगना होगा, अनंतकाल तक संसार में भ्रमण करना होगा। पर्याय के सत् का अपमान करने के इस महापाप (मिथ्यात्व) से वे बच न सकेंगे।

द्रव्य और गुणों में फेर-फार करने का विकल्प न आकर पर्याय में ही फेर-फार करने का विकल्प क्यों आता है? इसका सहज मनोवैज्ञानिक कारण है। जहाँ फेर-फार करने की गुंजाइश दिखती है, वहाँ ही फेर-फार करने का विकल्प आता है; जहाँ गुंजाइश नहीं दिखाई देती, वहाँ कुछ करने का विकल्प भी नहीं उठता है।

जैसे हम किसी अवैध कार्य को कराना चाहते हैं, और उसे करना अनेक सरकारी कर्मचारियों के हाथ में है; जिस कर्मचारी पर हमें यह भरोसा हो कि वह किसी भी कीमत पर अवैध कार्य नहीं करेगा, हम उसे करने को कहते भी नहीं हैं; पर जिस कर्मचारी के बारे में हम यह समझते हैं कि उससे साम-दाम-दण्ड-भेद से काम कराया जा सकता है, उसीसे हरप्रकार से कार्य कराने का यत्न करते हैं।

इसीप्रकार द्रव्य और गुण की अचलता प्रायः सब के ख्याल में सहज आ जाती है, अतः उनमें फेर-फार करने की बुद्धि नहीं होती; किन्तु पर्याय की अचलता सहज ख्याल में नहीं आती – यही कारण है कि उनमें फेर-फार करने की बुद्धि बनी रहती है। क्रमबद्धपर्याय की सच्ची समझ बिना पर्यायों की अचलता ख्याल में नहीं आती और उनमें फेर-फार करने की बुद्धि बनी ही रहती है।

पर्यायों में फेर-फार करने की मिथ्याबुद्धि ही अज्ञान है, कर्त्तावाद है। इसी कर्त्तावादी अज्ञान का निषेध समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में पूरी शक्ति से किया गया है। जैनदर्शन के अकर्त्तावाद का यही मर्म है।

जैनदर्शन का अकर्त्तावाद मात्र यहीं तक सीमित नहीं कि कोई सर्वशक्तिमान ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं है। अकर्त्तावाद का व्यापक अर्थ यह है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं; यहाँ तक कि अपनी भी क्रमनिश्चित पर्यायों में वह किसी प्रकार का फेर-फार नहीं कर सकता है। यद्यपि द्रव्य अपनी पर्यायों का कर्त्ता है, तथापि फेर-फार कर्त्ता नहीं।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि गोम्मटसार में नियतिवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है[1], यह क्रमबद्धपर्याय भी कुछ वैसी ही है, अतः इसमें भी एकान्त का दोष आता है। पर गोम्मटसार के नियतवाद और क्रमबद्धपर्याय में बहुत अन्तर है। एकान्तनियतवादी तो पुरुषार्थादि अन्य समवायों की उपेक्षाकर एकान्तनियतवाद का आश्रय लेकर स्वच्छन्दता का पोषण करता है, जबकि क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त तो पुरुषार्थादि अन्य तथ्यों को साथ लेकर चलता है।

इस सन्दर्भ में जैनेन्द्र सिद्धान्तकोशकार की टिप्पणी दृष्टव्य है :-

"जो कार्य या पर्याय जिस निमित्त के द्वारा जिस द्रव्य में जिस क्षेत्र व काल में जिसप्रकार से होना होता है, वह कार्य उसी निमित्त के द्वारा उसी द्रव्य, क्षेत्र व काल में उसीप्रकार से होता है। ऐसी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावरूप चतुष्टय से समुदित नियत कार्य-व्यवस्था को 'नियति' कहते हैं। नियत कर्मोदयरूप निमित्त की अपेक्षा इसे ही 'दैव', नियतकाल की अपेक्षा इसे ही 'काललब्धि' और होने योग्य नियतभाव या कार्य की अपेक्षा इसे ही 'भवितव्य' कहते हैं।

अपने-अपने समयों में क्रमपूर्वक नम्बरवार पर्यायों के प्रगट होने की अपेक्षा श्री कानजी स्वामीजी ने इसके लिए 'क्रमबद्धपर्याय' शब्द का प्रयोग किया है।

यद्यपि करने-धरने के विकल्पोंपूर्ण रागी बुद्धि में सब-कुछ अनियत प्रतीत होता है, परन्तु निर्विकल्प समाधि के साक्षीमात्र भाव में विश्व की समस्त कार्यव्यवस्था उपरोक्त प्रकार नियत प्रतीत होती है। अतः वस्तुस्वभाव, निमित्त (दैव), पुरुषार्थ, काललब्धि, व भवितव्य इन पाँचों समवायों से समवेत तो उपरोक्त व्यवस्था सम्यक् है; और इनसे निरपेक्ष वही मिथ्या है। निरुद्यमी पुरुष मिथ्या नियति के आश्रय से पुरुषार्थ का तिरस्कार करते हैं, पर अनेकान्तबुद्धि इस सिद्धान्त को जानकर सर्व बाह्य व्यापार से विरक्त हो एक ज्ञाताद्रष्टा भाव में स्थिति पाती है।"[2]

---

[1] गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ८८२

[2] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ६१२

कार्योत्पत्ति में पंच कारणों के समवाय को सम्यक् घोषित करते हुए आचार्यसिद्धसेन सम्मईसुत्तं (सन्मति सूत्र) में लिखते हैं :–

"कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता ।
मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं ॥५३॥[1]

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (निमित्त), और पुरुषार्थ इन पांच कारणों में से किसी एक से कार्योत्पत्ति मानना एकान्त है, मिथ्यात्व है और इनके समवाय से कार्योत्पत्ति मानना अनेकान्त है, सम्यक्त्व है।"

पंचसमवायों की चर्चा पद्मपुराण में इसप्रकार है :–

"कालः कर्मेश्वरो दैवं स्वभावः पुरुषः क्रिया ।
नियतिर्वा करोत्येवं विचित्रं कः समीहितम् ॥[2]

उक्त छन्द में राम को वनवास और भरत को राज्य दिये जाने पर जनता अपने भाव व्यक्त कर रही है :–

ऐसी विचित्र चेष्टा को काल, कर्म, ईश्वर, दैव, स्वभाव, पुरुष, क्रिया अथवा नियति ही कर सकती है और कौन कर सकता है ?"

इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए जैनेन्द्र सिद्धान्तकोशकार लिखते हैं :–

"काल को नियति में, कर्म व ईश्वर को निमित्त में, और दैव व क्रिया को भवितव्य में गर्भित कर देने पर पांच बातें रह जाती हैं। स्वभाव, निमित्त, नियति, पुरुषार्थ व भवितव्य – इन पांच समवायों से समवेत ही कार्य-व्यवस्था की सिद्धि है, ऐसा प्रयोजन है।"[3]

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण भी देखिए :–

"गोम्मटसार में जो नियतवाद कहा है वह तो स्वच्छन्दी का है। जो जीव सर्वज्ञ को नहीं मानता, ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं करता, जिसने अन्तर्मुख होकर समाधान नहीं किया है, विपरीत

भावों के उछाले कम भी नहीं किये हैं, और 'जैसा होना होगा' – ऐसा कहकर मात्र स्वच्छन्दी होता है और मिथ्यात्व का पोषण करता है – ऐसे जीव को गोम्मटसार में गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है। किन्तु ज्ञान-स्वभाव के निर्णयपूर्वक यदि इस क्रमबद्धपर्याय को समझे तो ज्ञायक-स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यात्व और स्वच्छन्द छूट जाय।"[1]

"अज्ञानी कहते हैं कि – इस क्रमबद्धपर्याय को मानें तो पुरुषार्थ उड़ जाता है – किन्तु ऐसा नहीं है। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने से कर्त्ताबुद्धि का मिथ्याभिमान उड़ जाता है और निरन्तर ज्ञायकपने का सच्चा पुरुषार्थ होता है। ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ न करे उसके क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी सच्चा नहीं है। ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके जहाँ पर्याय स्व-सन्मुख हुई वहाँ एकसमय में उस पर्याय में पाँचों समवाय आ जाते हैं। पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत, और कर्म का अभाव – यह पाँचों समवाय एकसमय की पर्याय में आ जाते हैं।"[2]

"ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टटता।"[3]

"देखो, यह वस्तुस्थिति! पुरुषार्थ भी नहीं उड़ता और क्रम भी नहीं टूटता। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि का पुरुषार्थ होता है और वैसी निर्मल दशाएँ होती जाती हैं, तथापि पर्याय की क्रमबद्धता नहीं टूटती।"[4]

उक्त कथनों से स्पष्ट है कि गोम्मटसार में एकान्तों के कथन में जो नियतवादी मिथ्यादृष्टि का कथन है उसका क्रमबद्धपर्याय से कोई साम्य नहीं है। नियतवादी जैसी स्वच्छन्दता का पोषण क्रमबद्ध-पर्याय में कदापि नहीं है।

---

[1] ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ ७

[2] वही, पृष्ठ ११

[3] वही, पृष्ठ ९९

[4] वही, पृष्ठ १००

स्वामीजी के स्पष्टीकरण से भी यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि वे एकान्त नियतवाद के पोषक नहीं हैं, अपितु सच्चे अनेकान्तवादी हैं।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि आप कुछ भी कहो, पर क्रमबद्ध-पर्याय का सिद्धान्त लगता तो कुछ एकान्त-सा ही है ?

भाई ! आपके लगने को अब हम क्या कहें ? जब अनेक आगम प्रमाणों और युक्तियों से स्पष्ट कर दिया तब भी यदि आपको एकान्त-सा लगता है तो हम क्या करें ? हम तो आपके सामने युक्तियाँ और आगम ही रख सकते हैं, अनुभव तो करा नहीं सकते।

यदि गहराई से विचार नहीं करोगे, ऊपर-ऊपर ही सोचोगे तो एकान्त-सा लगेगा ही। गहराई से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह मिथ्या-एकान्त नहीं है।

क्या कहा, मिथ्या-एकान्त नहीं है ?

हाँ ! हाँ !! सम्यक्-एकान्त तो वह है ही।

क्या एकान्त भी दो तरह का होता है ?

हाँ ! हाँ !! एकान्त ही क्यों, अनेकान्त भी दो तरह का होता है।

तो क्या जैनदर्शन में एकान्त को भी स्थान प्राप्त है ? क्या वह अनेकान्तवादी दर्शन नहीं है ?

जैनदर्शन अनेकान्त में भी अनेकान्त स्वीकार करता है। यद्यपि जैनधर्म अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है, तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी मानें तो यह भी तो एकान्त हो जायगा। अतः जैनदर्शन में अनेकान्त में भी अनेकान्त को स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन सर्वथा न एकान्तवादी है और न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथंचित् एकान्तवादी और कथंचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त में अनेकान्त है।

कहा भी है :–

"अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥"[1]

[1] स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक १०३ (अरनाथ स्तुति, श्लोक १८)

प्रमाण और नय हैं साधन जिसके, ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्तस्वरूप है; क्योंकि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकान्तस्वरूप एवं अंशग्राही नय की अपेक्षा वस्तु एकान्तरूप सिद्ध है।"

जैनदर्शन के अनुसार एकान्त भी दो प्रकार का होता है और अनेकान्त भी दो प्रकार का। यथा – सम्यक्-एकान्त और मिथ्या-एकान्त, सम्यक्-अनेकान्त और मिथ्या-अनेकान्त। निरपेक्ष नय मिथ्या-एकान्त है और सापेक्ष नय सम्यक्-एकान्त है तथा सापेक्ष नयों का समूह अर्थात् श्रुतप्रमाण सम्यक्-अनेकान्त है और निरपेक्ष नयों का समूह अर्थात् प्रमाणाभास मिथ्या-अनेकान्त है।

कहा भी है :–

"जं वत्थु अणेयन्तं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णएहि य, णिरवेक्खं दीसदे णेव ॥[1]

जो वस्तु अनेकान्तरूप है वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्तरूप भी है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्तरूप है और नयों की अपेक्षा एकान्तरूप है। बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं देखा जा सकता है।"

अनेकान्त में अनेकान्त की सिद्धि करते हुए आचार्य अकलंकदेव लिखते हैं :–

"यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त का सर्वथा लोप किया जाय तो सम्यक्-एकान्त के अभाव में, शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह, तत्समुदायरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायगा। अतः यदि एकान्त ही स्वीकार कर लिया जावे तो फिर अविनाभावी इतरधर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्वलोप का प्रसंग प्राप्त होगा।"[2]

सम्यक-एकान्त नय है और सम्यक्-अनेकान्त प्रमाण।[3]

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६१
[2] राजवार्तिक, अ० १, सूत्र ६ की टीका
[3] वही

इस दृष्टि से विचार करने पर 'क्रमबद्धपर्याय' सम्यक्-नियतिवाद अर्थात् सम्यक्-एकान्त है जो कि सम्यक्-अनेकान्त की विरोधी नहीं, अपितु पूरक है।

इस बात को यदि और अधिक स्पष्ट करें तो बात कुछ इस-प्रकार होगी।

सम्यक्-अनेकान्त अर्थात् श्रुतप्रमाण की दृष्टि से विचार करें तो कार्य की सिद्धि अनेक कारणों से अर्थात् पंचसमवायों से होती है, किन्तु सम्यक्-एकान्त अर्थात् नय की अपेक्षा से जिस समवाय की अपेक्षा कथन हो उससे कार्य हुआ कहा जाता है, अन्य समवाय उसमें गौण रहते हैं – उनका अभाव अपेक्षित नहीं होता।

इस दृष्टि से विचार करने पर यद्यपि प्रत्येक कार्य श्रुतप्रमाण (सम्यक्-अनेकान्त) की अपेक्षा पंचसमवायों से ही होता है, तथापि नय की अपेक्षा जिस समवाय को मुख्य करके कथन किया जाता है उससे कार्य सिद्धि हुई – वह कथन सम्यक्-एकान्त होता है, मिथ्या-एकान्त नहीं; क्योंकि उसमें अन्य समवाय गौण होते हैं, उनका अभाव नहीं होता।

प्रस्तुत प्रसंग में काल की अपेक्षा कथन करने पर प्रत्येक कार्य स्वकाल (स्व-अवसर) में ही होता है – यह कहना सम्यक्-एकान्त होगा, मिथ्या-एकान्त नहीं। क्योंकि इस कथन में पुरुषार्थादि अन्य समवाय गौण हुए हैं, उनका अभाव अभीष्ट नहीं है।

इसप्रकार क्रमबद्धपर्याय को सम्यक्-एकान्त भी कहा जा सकता है जो कि सम्यक्-अनेकान्त का पूरक है, विरोधी नहीं।

एक कारण यह भी है कि सम्यक्-एकान्त और मिथ्या-एकान्त का भेद न जानने वालों को क्रमबद्धपर्याय की बात एकान्त-सी लगती है।

उक्त सन्दर्भ में मैं एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि क्रमबद्धपर्याय में आपको काल सम्बन्धी एकान्त ही क्यों लगता (नजर आता) है, क्षेत्र सम्बन्धी क्यों नहीं,

भाव सम्बन्धी क्यों नहीं, निमित्त सम्बन्धी क्यों नहीं ? जब क्रमबद्ध-पर्याय के स्पष्टीकरण में स्पष्टरूप में कहा गया है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस विधान, व जिस निमित्त से जैसी होनी होगी; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी क्षेत्र में, उसी काल में, उसी विधान से, व उसी निमित्त से वैसी ही होगी।

उक्त व्याख्या में काल के साथ द्रव्य, क्षेत्र, भाव, निमित्त व विधान भी निश्चित बताया गया है। फिर आपको काल की नियमितता में ही क्यों आशंका होती है, क्षेत्रादि की नियमितता में क्यों नहीं ?

जैसे केवलज्ञान जीव को ही होगा, अजीव को नहीं; जीव में भी भव्यजीव को ही होगा, अभव्य को नहीं – यह द्रव्य सम्बन्धी नियमितता है। क्या इसमें आपको एतराज है ? इसीप्रकार केवलज्ञान क्षपकश्रेणीरूप ध्यान (विधि) से ही होगा तथा ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों के अभाव (निमित्त) पूर्वक ही होगा – यह विधान और निमित्त संबंधी नियमितता है। क्या इसमें भी आपको कोई शंका है ? यदि नहीं, तो फिर काल संबंधी नियमितता में ही शंका क्यों ?

क्रमबद्धपर्याय में अकेले काल को ही नियमित स्वीकार नहीं किया है; वरन् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और निमित्त को भी नियमित स्वीकार किया है।

जब क्रमबद्धपर्याय में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, निमित्त – सभी की नियमितता शामिल है तब फिर जिस काल में होना होगा उसी काल में होगा के स्थान पर यह भी कहा जा सकता है कि जिस द्रव्य का होना होगा, उसी का होगा; जिस क्षेत्र में होना होगा, उसी में होगा; जो होना होगा, वही होगा; जिस विधान से होना होगा, उसी से होगा; जिस निमित्तपूर्वक होना होगा, उसी निमित्त से होगा।

फिर काल पर ही ऐतराज क्यों ? काल ही की नियमितता में बंधन की प्रतीति क्यों, अन्य में क्यों नहीं ? क्या कारण है कि अज्ञानी काल ही में शंकित होता है ?

इसका कारण है अज्ञानी का उतावलापन। पर्याय की अचलता का ज्ञान न होने से अज्ञानी में एक प्रकार का उतावलापन पाया जाता है कि इतनी प्रतीक्षा कौन करे ? कार्य जल्दी होना चाहिये। जिसका सम्यग्दर्शन-पर्याय की प्राप्ति का काल दूर होता है, उसे काल की नियमितता का विश्वास नहीं हो पाता।

लोक में भी देखा जाता है कि जिसे किसी काम को होने का काल समीप दिया जाता है – बताया जाता है, वह सहज स्वीकार कर लेता है; पर जिसे लम्बा काल बताया जाता है या दिया जाता है तो उसे बदलवाने का यत्न करता है, उसे वह काल स्वीकार नहीं होता। उसीप्रकार जिसका आत्महित का काल दूर है, उसे काल का निश्चित होना सुहाता नहीं है। जिसे काल का निश्चित होना सुहाता नहीं है, समझना चाहिये कि उसका सत्य समझने का काल अभी दूर है। उसमें काल को बदलने की वृत्ति, उतावलापन बना ही रहता है। यह उतावलेपन की वृत्ति ही उसे यह स्वीकार नहीं करने देती कि जब होना होगा तभी होगा।

यदि गहराई से विचार करें तो समझ में आ सकता है कि द्रव्य-क्षेत्रादि के समान काल भी नियमित हैं। पर गहराई से कोई विचार करे तब न ? गहराई में तो कोई जाना नहीं चाहता, बस यों ही ऊपर-ऊपर चलती-फिरती दृष्टि डालता है – तो एकान्त-सा प्रतीत होता है; पुरुषार्थ का लोप हो जाएगा – ऐसा लगता है।

आज की दुनियाँ इतनी जल्दी में है, इतनी उतावली हो रही है कि उसे गहराई में जाने को अवकाश ही नहीं है। इस दौड़-धूप के युग में कोई ठहरना तो दूर, चलता भी नहीं है, सिर्फ दौड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी दौड़ में शामिल है, दौड़ की धुन में है। वह अपनी धुन में इतना व्यस्त है कि उसे 'क्रमबद्धपर्याय' जैसे गंभीर विषय पर शान्ति से, गंभीरता से विचार करने को समय ही नहीं है।

यह त्रस्त जगत विषय-कषाय में इतना अभ्यस्त हो गया है, विषय-कषाय की सामग्री को जोड़ने के विकल्प में ही इतना व्यस्त हो रहा है कि "मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है, यह जगत क्या है,

इसकी परणति का कर्त्ता कौन है ?" – आदि दार्शनिक विषयों पर विचार करने की फुर्सत ही इसे कहाँ है ? इन बातों पर विचार करना तो यहाँ निठल्ले लोगों का काम मानने लगा है। यह तो बस दौड़े जा रहा है बिना लक्ष्य के ही।

यदि आपको इस जगत का उतावलापन देखना है तो किसी भी नगर के व्यस्त चौराहे पर खड़े हो जाइये और देखिये इस दुनियाँ का उतावलापन। चौराहे पर मौत की निशानी लालबत्ती है, एक सिपाही भी खड़ा है आपको रोकने के लिए, फिर भी आप नहीं रुक रहे हैं; अपनी मौत की कीमत पर भी नहीं रुक रहे हैं। यद्यपि आप अच्छी तरह जानते हैं कि लालबत्ती होने पर सड़क पार करना खतरे से खाली नहीं, कभी भी किसी भारी वाहन के नीचे आ सकते हैं, पुलिस वाला भी आपको सचेत कर रहा है, फिर भी आप दौड़े जा रहे हैं। क्या यह उतावलेपन की हद नहीं है ? इतनी भी जल्दी किस काम की ? पर ऐसा उतावलापन कहीं भी देखा जा सकता है।

क्या यह देश का दुर्भाग्य नहीं है कि आप अपने उतावलेपन के कारण लालबत्ती होने पर भी किसी वाहन के नीचे आकर मर न जावें – मात्र इसलिए लाखों पुलिसमैनों को चौराहों पर खड़ा रहना पड़ता है।

अपनी मौत की भी कीमत पर जिनको इतनी भी देरी स्वीकृत नहीं, पसंद नहीं; ऐसे अधीरिया – उतावले लोगों की समझ में यह कैसे आ सकता है कि जो कार्य जब होना होगा, तभी होगा।

यह काम तो धीरता का है, गम्भीरता का है; वीरता का भी है। जो धैर्य से गम्भीरतापूर्वक मनन करे, चिन्तन करे, उस वीर की समझ में ही 'क्रमवद्धपर्याय' आती है। इसमें पुरुषार्थ का लोप नहीं होता, वरन् सच्चा पुरुषार्थ प्रगट होता है।

उतावलेपन के अतिरिक्त पक्षव्यामोह भी एक कारण है जो काल की नियमितता की सहज स्वीकृति में बाधक बनता है।

पक्षव्यामोह से रहित आत्मार्थी वीर बन्धुओं से अनुरोध है कि वे एक बार इस महत्त्वपूर्ण विषय पर धीरता व गम्भीरता से विचार करें।

'क्रमबद्धपर्याय' में यदि कुछ लोगों को नियतवाद का एकान्त नजर आता है तो कतिपय मनीषी इसे एकान्त भाग्यवादी दृष्टिकोण मानते हैं। उनकी दृष्टि में नियतिवाद, क्रमबद्धपर्याय और दैववाद में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि जो होना है सो होगा – ऐसा विचारना पुरुषार्थहीन बनाता है। उनके अनुसार कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२१ से ३२३ तक का कथन सार्वभौमिक सत्य नहीं है।

इस सन्दर्भ में हम सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचंदजी वाराणसी के विचार जो कि उन्होंने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की उक्त गाथाओं के भावार्थ में ही व्यक्त किये हैं, उद्धृत करना चाहते हैं :–

"सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है। जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस वस्तु की, जो पर्याय होने वाली है, वही होती है – उसे कोई नहीं टाल सकता। सर्वज्ञदेव सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवस्थाओं को जानते हैं। किन्तु उनके जान लेने से प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत नहीं हुआ; बल्कि नियत होने से ही उन्होंने उसरूप में जाना है।

जैसे – सर्वज्ञदेव ने हमें बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय पूर्वपर्याय नष्ट होती है और उत्तरपर्याय उत्पन्न होती है। अतः पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय का उपादान कारण है और उत्तरपर्याय पूर्वपर्याय का कार्य है। इसलिए पूर्वपर्याय से जो चाहें उत्तरपर्याय उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु नियत उत्तरपर्याय ही उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न माना जायगा तो मिट्टी के पिण्ड में स्थास कोस पर्याय के बिना भी घट पर्याय बन जायेगी। अतः यह मानना पड़ता है कि प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव नियत है।

कुछ लोग इसे नियतिवाद समझकर उसके भय से प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत मानते हैं, किन्तु काल को नियत नहीं मानते। उनका कहना है कि पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत है, किन्तु काल नियत नहीं है; काल को नियत मानने से पौरुष व्यर्थ हो जायेगा।

किन्तु उनका उक्त कथन सिद्धान्त विरुद्ध है; क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र और भाव नियत होते हुए काल अनियत नहीं हो सकता। यदि काल को अनियत माना जायेगा तो काललब्धि कोई चीज ही नहीं रहेगी। फिर तो संसार परिभ्रमण का काल अर्द्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक शेष रहने पर भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जायेगा और बिना उस काल को पूरा किये ही मुक्ति हो जायगी। किन्तु यह सब बातें आगमविरुद्ध हैं। अतः काल को भी मानना ही पड़ता है।

रही पौरुष की व्यर्थता की आशंका, सो समय से पहले किसी काम को पूरा कर लेने से ही पौरुष की सार्थकता नहीं होती। किन्तु समय पर काम का हो जाना ही पौरुष की सार्थकता का सूचक है। उदाहरण के लिए किसान योग्य समय पर गेहूँ बोता है और खूब श्रमपूर्वक खेती करता है, तभी समय पर पक कर गेहूँ तैयार होता है। तो क्या किसान का पौरुष व्यर्थ कहलायेगा ? यदि वह पौरुष न करता तो समय पर उसकी खेती पककर तैयार न होती, अतः काल की नियतता में पौरुष के व्यर्थ होने की आशंका निर्मूल है।

अतः जिस समय, जिस द्रव्य की, जो पर्याय होनी है, वह अवश्य होगी। ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि सम्पत्ति में हर्ष और विपत्ति में विषाद नहीं करता, और न सम्पत्ति की प्राप्ति तथा विपत्ति को दूर करने के लिए देवी-देवताओं के आगे गिड़गिड़ाता फिरता है।"[1]

उक्त कथन में कार्तिकेयानुप्रेक्षा की उक्त गाथाओं की सार्वभौमिकता पर ही वल दिया गया है और पौरुष की सार्थकता भी सिद्ध की गई है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव की परमुखापेक्षिता एवं दीनता इसी सार्वभौमिक सत्य के आधार पर समाप्त होती है कि एक द्रव्य दूसरे का भला-बुरा नहीं कर सकता तथा जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, जिस विधान से, जिस निमित्तपूर्वक जैसी होनी है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल में, उसी विधान से, उसी निमित्तपूर्वक, वैसी ही होगी; उसे इन्द्र तो क्या जिनेन्द्र भी नहीं पलट सकते हैं; तो फिर व्यंतरादि साधारण देवी-देवता की तो क्या बिसात है ?

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा: राजचन्द्र जैनशास्त्रमाला, पृष्ठ २२८

जरा विचार तो कीजिए कि "कार्तिकेयानुप्रेक्षा का उक्त कथन गृहीतमिथ्यात्व के निषेध के लिए किया गया है, उसे सार्वभौम नहीं मान लेना चाहिए" – इसका क्या अर्थ हो सकता है ?

क्या यह बात सत्य नहीं है, मात्र गृहीतमिथ्यात्व को छुड़ाने के लिए यों ही कह दी गई है ? क्या असत्य के आश्रय से गृहीतमिथ्यात्व छूट सकता है ? क्या समय से पूर्व कोई कार्य सम्पन्न किया जा सकता है ? क्या समय के पूर्व कार्य-सम्पन्नता में ही पुरुषार्थ है ? शेष कार्य क्या बिना पुरुषार्थ के ही सम्पन्न हो जाते हैं ? – ये कुछ प्रश्न हैं जो कि उक्त सत्य को सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक न मानने पर उत्पन्न होते हैं। फिर सर्वज्ञता का प्रश्न भी खड़ा हुआ ही है।

अब रहा एक पुरुषार्थहीनता का प्रश्न ? उसके सन्दर्भ में हमारा कहना यह है कि क्रमबद्धपर्याय की बात सर्वत्र पुरुषार्थ को आगे रखकर ही कही गई है, उसकी उपेक्षा करके नहीं।

होनहार की चर्चा करते हुए भैया भगवतीदासजी भी पुरुषार्थ की प्रेरणा देना नहीं भूले। उनकी दृष्टि में सच्ची होनहार अर्थात् क्रमबद्धपर्याय पुरुषार्थनाशक नहीं, अपितु पुरुषार्थप्रेरक है।

जिस पद में वे यह लिखते हैं :

"जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी होसी नहि क्यों ही, काहे होत अधीरा रे।।"

उसी पद में आगे चलकर पुरुषार्थ की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं :–

तू सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनंत तो तीरा रे।"

यद्यपि कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण माने गये हैं, जिन्हें पंचसमवाय के नाम से भी अभिहित किया जाता है; तथापि उन सब में पुरुषार्थ को विशिष्ट स्थान प्राप्त है, क्योंकि प्रयत्न उसी के सन्दर्भ में संभव है – भवितव्य (होनहार), काललब्धि आदि में संभव नहीं है। क्रमबद्धपर्याय अर्थात् सम्यक्-नियति मानने में जगत को पुरुषार्थ की अप्रासंगिकता दिखाई देती हैं, जबकि सम्यक्-नियति में अन्य कारणों की उपेक्षा न होने से इसप्रकार की कोई बात नहीं है। इसी बात को उपर्युक्त कथन में स्पष्ट किया गया है।

आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने मुक्तिमार्ग के सन्दर्भ में इस विषय को उठाकर बहुत अच्छी मीमांसा प्रस्तुत की है। उसका कुछ अंश दृष्टव्य है, जो कि इसप्रकार है :–

"यहाँ प्रश्न है कि मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यानुसार बनता है, या मोह आदि के उपशमादि होने पर बनता है, या अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है सो कहो। यदि प्रथम दोनों कारण मिलने पर बनता है तो हमें उपदेश किसलिए देते हो? और पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं, उनमें कोई उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता; सो कारण क्या?"

समाधान :– एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। सो मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं, और नहीं बनता वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते।

पूर्वोक्त तीन कारण कहे उनमें काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु नहीं है; जिस काल में कार्य बनता है वही काललब्धि, और जो कार्य हुआ वही होनहार। तथा जो कर्म के उपशमादिक हैं वह पुद्गल की शक्ति है, उसका आत्मा कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। तथा पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं सो यह आत्मा का कार्य है; इसलिए आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।

वहाँ यह आत्मा जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं, और कार्य की भी सिद्धि होती ही होती है। तथा जिस कारण से कार्य की सिद्धि हो अथवा नहीं भी हो, उस कारणरूप उद्यम करे, वहाँ अन्य कारण मिलें तो कार्यसिद्धि होती है, न मिले तो सिद्धि नहीं होती।

सो जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा है, इससे मोक्ष होता ही होता है। इसलिए जो जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है उसके काललब्धि व होनहार भी हुए और कर्म के उपशमादि हुए हैं तो वह ऐसा उपाय करता है। इसलिये जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है उसको सर्व कारण मिलते हैं

और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है – ऐसा निश्चय करना। तथा जो जीव पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता उसके काललब्धि व होनहार भी नहीं और कर्म के उपशमादि नहीं हुए हैं, तो यह उपाय नहीं करता। इसलिये जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता उसको कोई कारण नहीं मिलते और उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती – ऐसा निश्चय करना।"[1]

उक्त कथन में पंडित टोडरमलजी ने कार्य की निष्पन्नता में पुरुषार्थ को प्रधान रखकर काललब्धि आदि अन्य कारणों की भी अनिवार्य उपस्थिति बताई है।

वस्तुतः पाँचों समवायों का समवाय ही कार्य का उत्पादक है। यह कहना कोरी कल्पना ही है कि पाँचों समवायों में से यदि एक भी नहीं मिला तो कार्य नहीं होगा, क्योंकि ऐसा संभव ही नहीं है कि कार्य होना हो और कोई समवाय न मिले; जब कार्य होना होता है तो सभी समवाय होते ही होते हैं। पुरुषार्थ को मुख्य करके यह बात पं० टोडरमलजी ने बहुत ही स्पष्ट लिखी है।

पुरुषार्थ भी अन्य समवायों के अनुसार ही होता है। पंच समवायों में कोई परस्पर संघर्ष नहीं है, अपितु अद्भुत सुमेल है। अतः यह कहना कि यदि होनहार न हुई या काललब्धि न पकी तो पुरुषार्थ से क्या होता है? या निमित्त नहीं मिला तो होनहार क्या करेगी या पुरुषार्थ क्या काम आयगा? आदि – मानसिक व्यायाम के अतिरिक्त कुछ मायने नहीं रखता।

वैसे तो पुरुषार्थ के बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। सर्वत्र ही अन्य समवाय सापेक्ष पुरुषार्थ का साम्राज्य है। मुक्तिमार्गरूपी कार्य की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता में भी काललब्धि आदि अन्य समवायों के साथ-साथ पुरुषार्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी मुक्ति के मार्ग के सन्दर्भ में पुरुषार्थ की व्याख्या, जगत जिसे पुरुषार्थ समझता है, उससे कुछ भिन्न ही है।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३०९

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की भाषाटीका में छन्द ९ के भावार्थ में पंडित टोडरमलजी ने पुरुष की व्याख्या इसप्रकार की है :–

"पुरु=उत्तम चेतना गुण में, सेते=स्वामी होकर प्रवर्त्तन करे – उसको पुरुष कहते हैं। ज्ञानदर्शन चेतना के नाथ को पुरुष कहते हैं।"

अर्थ अर्थात् प्रयोजन – इसप्रकार उत्तम चेतना गुण का स्वामी होकर उसमें ही प्रवर्त्तन करना है प्रयोजन जिसका, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। दूसरे शब्दों में मुक्ति के मार्ग में आत्मानुभवन की प्राप्ति का प्रयास ही पुरुषार्थ है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा की स्थिति में तो उक्त पुरुषार्थ विशेषकर जागृत होता है, क्योंकि अनादिकाल से जगत के परिणमन को अपनी इच्छानुकूल करने की आकुलता से व्याकुल प्राणी जब यह अनुभव करता है कि जगत के परिणमन में मैं कुछ भी फेर-फार नहीं कर सकता तो उसका उपयोग सहज ही जगत से हटकर आत्म-सन्मुख होता है। और जब यह श्रद्धा बनती है कि मैं अपनी क्रमनियमित पर्यायों में भी कोई फेर-फार नहीं कर सकता तो पर्याय पर से भी दृष्टि हट जाती है और स्व-स्वभाव की ओर ढलती है।

दृष्टि का स्वभाव की ओर ढलना ही मुक्ति के मार्ग में अनन्त पुरुषार्थ है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने वाले को उक्त श्रद्धा के काल में आत्मोन्मुखी अनंत पुरुषार्थ होने का और सम्यग्दर्शन प्रगट होने का क्रम भी सहज होता है।

कर्त्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त इस जगत को पर में या पर्याय में कुछ फेर-फार करने में ही पुरुषार्थ दिखाई देता है, किन्तु पर और पर्याय सम्बन्धी विकल्पों से विराम लेकर स्व में स्थिर हो जाने में पुरुषार्थ नहीं दिखता। सर्वज्ञ भगवान पर में व अपनी पर्याय में भी कुछ भी फेर-फार नहीं करते, तो क्या वे पुरुषार्थहीन हो गये? क्या उनके मोक्ष पुरुषार्थ नहीं है?

उनके वीर्यगुण का पूर्ण विकास हो चुका है, फिर भी क्या वे अनन्त वीर्य के धनी अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थी नहीं हैं? पर में व पर्याय

में कुछ भी फेर-फार किये बिना ही जब वे अनन्त पुरुषार्थी हो सकते हैं तो फिर हम क्यों नहीं ? ये कुछ प्रश्न हैं उनके सामने, जिन्हें 'क्रमबद्धपर्याय' मानने में पुरुषार्थ उड़ता नजर आता है।

उक्त संदर्भ में स्वामीजी के विचार भी दृष्टव्य हैं :–

"**प्रश्न** :– जबकि सभी क्रमबद्ध है और उसमें जीव कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता तो फिर जीव में पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

उत्तर :– सब कुछ क्रमबद्ध है – इस निर्णय में ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है, किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। भगवान जगत का सब-कुछ मात्र जानते ही हैं, किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, तब क्या इससे भगवान का पुरुषार्थ परिमित हो गया ?

नहीं, नहीं; भगवान का अनन्त अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान में समाविष्ट है। भगवान का पुरुषार्थ निज में है, पर में नहीं। पुरुषार्थ जीवद्रव्य की पर्याय है, इसलिये उसका कार्य जीव की पर्याय में होता है; किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं होता।

जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है।

अहो ! जिनका पूर्ण ज्ञायकस्वभाव प्रगट हो गया है, वे केवलज्ञानी हैं, उनके ज्ञान में सब-कुछ एक ही साथ ज्ञात होता है; ऐसी प्रतीति करने पर स्वयं भी निज दृष्टि से देखने वाला ही रहा; ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्त्तृत्व अथवा रागादिक सब-कुछ अभिप्राय में से दूर हो गया। ऐसी द्रव्यदृष्टि के बल से, ज्ञान की पूर्णता की भावना से, वस्तुस्वरूप का चिंतवन करता है।

यह भावना ज्ञानी की है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की नहीं है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव पर का कर्त्तृत्व मानता है और कर्त्तत्व की मान्यता वाला जीव ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं कर सकता, क्योंकि कर्त्तृत्व और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध है।

सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा है, वही होता है। यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता – इसप्रकार जो मानते हैं वे अज्ञानी हैं।

हे भाई ! तू किसके ज्ञान से बात करता है ? अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान से ? यदि तू अपने ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ का और सभी द्रव्यों की अवस्था का निर्णय कर लिया उस ज्ञान में स्वद्रव्य का निर्णय न हो – यह हो ही कैसे सकता है ? स्वद्रव्य का निर्णय करने वाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है।

तूने अपने तर्क में कहा है कि 'सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो वैसा होता है', तो वह मात्र बात करने के लिए कहा है – अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है ?

पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो सर्वप्रथम वह निर्णय कर और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक कहता हो तो सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान के निर्णय वाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने में ज्ञान का अनन्तवीर्य कार्य करता है, तथापि उससे इन्कार करके तू कहता है कि क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की ही श्रद्धा नहीं है, और केवलज्ञान को स्वीकार करने का अनन्त पुरुषार्थ तुझ में प्रगट नहीं हुआ। केवलज्ञान को स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है, तथापि यदि उसे स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि तू मात्र बातें ही करता है, किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हुआ। यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और भव की शंका न रहे, यथार्थ निर्णय हो जाय और पुरुषार्थ न आये यह हो ही नहीं सकता।"[१]

गहराई से विचार करें तो क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ही अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय स्वयं अनन्त पुरुषार्थ

---

[१] ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, पृष्ठ २४६

का कार्य है, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सर्वज्ञता का निर्णय समाहित है। जिसप्रकार सर्वज्ञता की प्रतीति-आस्था के बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय संभव नहीं है; उसीप्रकार क्रमबद्धपर्याय के सम्यक्निर्णय बिना सर्वज्ञता की भी सच्ची प्रतीति संभव नहीं है।

अब रही परकर्तृत्व के अहंकार की बात जिसे यह अज्ञानी जगत पुरुषार्थ माने बैठा है, सो वह पुरुषार्थ तो टूटना ही चाहिए क्योंकि वह सच्चा पुरुषार्थ ही नहीं है, वह तो नपुंसकता है। यदि क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से परकर्तृत्व का अहंकार भी न टूटा तो समझना चाहिए कि 'क्रमबद्धपर्याय' उसकी समझ में आई ही नहीं है। क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा का फल तो कर्तृत्व का अहंकार टूट कर अन्तरोन्मुखी सम्यक्पुरुषार्थ का जागृत होना ही है।

जिन लोगों को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ उड़ता नजर आता है, वस्तुतः पुरुषार्थ का सही स्वरूप ही उनकी समझ में नहीं आया है। वे परकर्तृत्व और पर्याय के हेर-फेर को ही पुरुषार्थ माने बैठे हैं। उन्हें सर्वप्रथम पुरुषार्थ के सम्यक्स्वरूप का गंभीरता से विचार करना चाहिए।

हमारा विश्वास है कि उनकी दृष्टि में पुरुषार्थ का सही स्वरूप स्पष्ट होते ही उनकी शंका-आशंका स्वतः समाप्त हो जावेगी, इसके बिना उक्त शंका का निवारण संभव नहीं है। अतः उनसे पुरुषार्थ के सही स्वरूप का गंभीरता से विचार करने का विनम्र अनुरोध है।

सर्वज्ञ को धर्म का मूल कहा गया है।[1] जो व्यक्ति सर्वज्ञ भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है।

आचार्य कुन्दकुन्द अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं :-

"जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥[2]

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३०२ का भावार्थ एवं उत्थानिका

[2] प्रवचनसार, गाथा ८०

जो जीव अरहंत अर्थात् सर्वज्ञ भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है और उसका मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है।"

इस गाथा में मोह को जीतने का उपाय बताया गया है। इसमें विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि मूलरूप से तो यह कहा गया है कि – जो आत्मा को जानता है, उसका मोह (मिथ्यात्व) नष्ट होता है; पर साथ ही यह भी कहा गया है कि जो अरहंत भगवान को द्रव्य रूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है – इसप्रकार मिथ्यात्व के नाश के लिए अरहंत भगवान को जानना भी अनिवार्य कर दिया गया है। मात्र अरहंत को नहीं, अपितु उन्हें द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानना अनिवार्य कहा है।

अपने आत्मा और अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण तो एक समान ही शुद्ध हैं, पर वर्त्तमान पर्याय में अन्तर है। अपनी पर्याय अल्प विकसित और अशुद्ध है, उनकी पर्याय पूर्ण विकसित और शुद्ध है। इससे स्पष्ट है कि आचार्यदेव ने पूर्णता और शुद्धता जानने को कहा है। इस तरह उन्होंने पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता के ज्ञान को मोह (मिथ्यात्व) नाश के लिए अनिवार्य माना है। यही कारण है कि आत्मानुभूति के साथ-साथ सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की सम्यक् पहिचान भी सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए अनिवार्य है।

जब सर्वज्ञता हमारा लक्ष्य है, प्राप्तव्य है, आदर्श है, उसे प्राप्त करने के लिए ही सारा यत्न है; तो फिर उसके सच्चे स्वरूप के परिज्ञान बिना उसे प्राप्त करने का मार्ग कैसे आरंभ हो सकता है ?

जैनदर्शन की मूलाधार सर्वज्ञता ही आज संकट में पड़ गई है। हमारे कुछ धुरंधर धर्मबन्धु पक्षव्यामोह में इतने उलझ गये हैं कि सर्वज्ञता में भी मीन-मेख निकालने लगे हैं। आचार्य समन्तभद्र को 'कलिकालसर्वज्ञ' इसलिए ही कहा गया था कि उन्होंने कलिकाल में डंके की चोट पर सर्वज्ञता सिद्ध की थी। वे कोई स्वयं सर्वज्ञ नहीं थे, पर उन्होंने कलिकाल के जोर से संकटापन्न सर्वज्ञता को पुनर्स्थापित

किया था, इसलिए वे 'कलिकालसर्वज्ञ' कहलाए। आज फिर कलिकाल जोर मार रहा है, आज युग को फिर एक समन्तभद्र चाहिए जो डंके की चोट पर सर्वज्ञता को सिद्ध कर सके, पुनः स्थापित कर सके।

मोह का नाश कर आत्मश्रद्धान-ज्ञान और आत्मलीनता के इच्छुकजनों को अनन्त पुरुषार्थपूर्वक मर-पच के भी सर्वज्ञता का निर्णय अवश्य करना चाहिए। सर्वज्ञता के निर्णय में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय समाहित है। सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर ही होता है। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता ही मुक्ति महल की प्रथम सीढ़ी है; उस पर आरोहण का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में समाहित है।

इसप्रकार 'सर्वज्ञता' और 'क्रमबद्धपर्याय' एक प्रकार से परस्परानुबद्ध हैं। एक का निर्णय (सच्ची समझ) दूसरे के निर्णय के साथ जुड़ा हुआ है। दोनों का ही निर्णय सर्वज्ञस्वभावी निज आत्मा के सन्मुख होकर होता है। यदि कोई व्यक्ति परोन्मुखी वृत्ति द्वारा 'सर्वज्ञता' या 'क्रमबद्धपर्याय' का निर्णय करने का यत्न करे तो वह कभी सफल नहीं होगा।

सर्वज्ञता प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय सर्वज्ञता का स्वरूप समझना है। जिसप्रकार जब तीर्थंकर किसी माँ के गर्भ में आते हैं, तो उसके पूर्व स्वप्नों में आते हैं; उसीप्रकार जिस आत्मा में सर्वज्ञता प्रगट होती है, प्रगट होने के पूर्व उसे वह समझ में आती है। सर्वज्ञता समझ में आये बिना प्राप्त नहीं की जा सकती है।

अभी तो सर्वज्ञता समझ में ही नहीं आ रही है, प्रगट होने की बात ही कहाँ है? सर्वज्ञता की समझ बिना, स्वीकृति बिना, धर्म की उत्पत्ति ही संभव नहीं है; तो फिर उसकी स्थिति, वृद्धि और पूर्णता का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है?

सर्वज्ञता की श्रद्धा बिना देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची श्रद्धा भी संभव नहीं है, क्योंकि सच्चे देव का तो स्वरूप ही सर्वज्ञता और वीतरागता है। शास्त्र का मूल भी सर्वज्ञ की वाणी है। गुरु भी तो

सर्वज्ञकथित मार्गानुगामी होते हैं। साधुओं को आगमचक्षु कहा है।[1] सर्वज्ञकथित मार्ग का निरूपण शास्त्रों में है। शास्त्रों की प्रामाणिकता के अभाव में गुरु का स्वरूप भी स्पष्ट कैसे होगा? अतः देव-शास्त्र-गुरु का सच्चा स्वरूप समझने के लिए सर्वज्ञता का स्वरूप समझना अति आवश्यक है।

इसीलिए तो तार्किकचक्रचूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र ने देव-शास्त्र-गुरु की सम्यक्श्रद्धा को सम्यग्दर्शन के स्वरूप में शामिल किया है।

वे लिखते हैं :–

"श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥[2]

तीन मूढता और आठ मद रहित तथा आठ अंगों सहित सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।"

कुछ लोगों का कहना है कि आप 'क्रमबद्धपर्याय' को सर्वज्ञ के साथ क्यों लपेटते हैं? उसे सीधी वस्तु से सिद्ध कीजिए न?

भाई! हम लपेटते नहीं, वह लिपटी हुई ही है; क्योंकि 'सर्वज्ञता' की श्रद्धा बिना 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा एवं 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा बिना 'सर्वज्ञता' की श्रद्धा संभव नहीं है।

यद्यपि 'सर्वज्ञता' का सहारा लिये बिना भी 'क्रमबद्धपर्याय' की सिद्धि की जा सकती है, वस्तुस्वरूप के आधार पर हम विस्तार से 'क्रमबद्ध' सिद्ध कर भी आये हैं; तथापि सर्वज्ञता से उसे अलग करने का आग्रह भी क्यों?

सर्वज्ञता के आधार पर क्रमबद्धपर्याय सिद्ध करने का एक कारण तो यह है कि सर्वज्ञता जैनदर्शन में सर्वमान्य है, उसमें किसी को भी विवाद नहीं है। अतः क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करने का यह एक ठोस

---

[1] आगमचक्खु साहू

[2] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४

आधार है। तथा जिन लोगों को सर्वज्ञता की बाहर से ही सही, थोड़ी-बहुत श्रद्धा है; उन्हें सर्वज्ञता के आधार पर 'क्रमबद्ध' समझने में बहुत सुविधा रहती है।

दूसरी बात यह भी है कि क्रमबद्धपर्याय का विषय अतिसूक्ष्म है; उसे सर्वज्ञता के आधार बिना साधारण बुद्धिवालों के गले उतारना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मैं आपसे ही कहता हूँ कि सर्वज्ञता एवं सर्वज्ञकथित आगम के आधार बिना आप एकलाख योजन का ऊँचा सुमेरु पर्वत ही समझा दीजिए। आखिर आपको यही तो कहना होगा कि शास्त्रों में लिखा है और शास्त्र सर्वज्ञकथित हैं। जब आप इतना स्थूल एकलाख योजन का सुमेरु पर्वत भी सर्वज्ञता और सर्वज्ञकथित आगम के बिना सिद्ध नहीं कर सकते तो फिर क्रमबद्धपर्याय जैसे सूक्ष्म विषय के समझाने में हमसे सर्वज्ञ और सर्वज्ञकथित आगम का सहारा छोड़ने को क्यों कहते हैं?

क्या आपका विश्वास सर्वज्ञता और सर्वज्ञकथित आगम में नहीं है? यदि है, तो फिर ऐसी बात क्यों? सर्वज्ञता का आधार छुड़ाने की हठ क्यों? लगता तो यह है कि आपको स्वयं सर्वज्ञता पर पूरा भरोसा नहीं या सर्वज्ञता का स्वरूप आपकी दृष्टि में पूरी तरह स्पष्ट नहीं है और सर्वज्ञ की सत्ता से इन्कार करने की हिम्मत भी नहीं है। अतः किसी न किसी बहाने इस समर्थ हेतु से अपनी जान छुड़ाना चाहते हैं।

यदि सर्वज्ञता का स्वरूप आपकी दृष्टि में स्पष्ट होता और उस पर आपको विश्वास भी होता तो क्रमबद्धपर्याय भी सहज स्वीकृत हो जाती। फिर यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि आप क्रमबद्धपर्याय की सिद्धि के लिए सर्वज्ञता का सहारा क्यों लेते हो?

अच्छा एक मिनिट 'क्रमबद्धपर्याय' की बात छोड़ भी दीजिए, फिर भी 'सर्वज्ञता' का निर्णय तो करना ही पड़ेगा। उसके बिना तो देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं होगा।

देव-शास्त्र-गुरु की रक्षा का नारा लगाने वालों ने कभी देव-शास्त्र-गुरु के सच्चे स्वरूप पर भी गौर करने का कष्ट उठाया है ? क्या सर्वज्ञता को समझे बिना देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप समझा या समझाया जा सकता है ?

आगम के संरक्षकों को क्या यह भी बताना पड़ेगा कि आगम की सबसे पहली शर्त है – उसका सर्वज्ञकथित (आप्तोपज्ञ)[1] होना। तथा सर्वज्ञकथित आगम निश्चित-भविष्य की असंख्य घोषणाओं से भरा पड़ा है।

क्या करणानुयोग का एक भी विषय विना सर्वज्ञकथित आगम के आधार के सिद्ध किया जा सकता है, समझाया जा सकता है ? क्या आप आठ कर्मों की सत्ता, उनका बंध, उदय, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण, उद्वेलन आदि विना सर्वज्ञकथित आगम के आधार के सिद्ध कर सकेंगे ? इसीप्रकार अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण के परिणामों की सिद्धि का आधार क्या बनाओगे ?

इन सम्पूर्ण विषयों व इसीप्रकार के अन्य विषयों के पठन-पाठन के समय आपको यह प्रश्न क्यों उपस्थित नहीं हुआ कि सर्वज्ञकथित आगम के आधार विना इन्हें सिद्ध किया जावे, आज ही यह नया प्रश्न क्यों ?

भाई ! जैसा कि कहा गया है कि सर्वज्ञ धर्म का मूल है, तदनुसार धर्मरक्षकों को सर्वज्ञ का निर्णय तो करना ही होगा। आखिर एक जैनदर्शन ही तो ऐसा दर्शन है जो प्रत्येक आत्मा के परमात्मा वनने की वात करता है; वात ही नहीं करता, परमात्मा वनने का मार्ग वताता है, उस पर चलने की प्रेरणा देता है, और छाती ठोककर विश्वास दिलाता है कि इस मार्ग पर चलने वाले अवश्य परमात्मा वनते हैं।

क्या परमात्मा वनने के पूर्व परमात्मा का स्वरूप समझना भी जरूरी नहीं है ? यदि है, तो फिर सर्वज्ञता की चर्चा से विराम का आग्रह

[1] समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ९

क्यों ? क्रमबद्धपर्याय का ही क्या, आचार्यों ने तो समस्त जिन-सिद्धान्तों का प्रतिपादन सर्वज्ञता के आधार पर ही किया है। हम किस-किस सिद्धान्त के प्रतिपादन में सर्वज्ञ और सर्वज्ञकथित आगम को तिलाञ्जलि देंगे ?

परमात्मा बनने के लिए क्या अपनी आत्मा को जानना – अनुभव करना आवश्यक नहीं है ? आचार्य कुन्दकुन्द के उक्त कथन में तो स्पष्ट ही लिखा है कि जो अरहंत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और जो आत्मा को जानता है वह मोह का नाश करता है।

उक्त कथन में स्पष्ट निर्देश है कि मोह का नाश करने के लिए अपनी आत्मा को जानना जरूरी है और अपनी आत्मा को जानने के पूर्व अरहंत (सर्वज्ञ) को जानना जरूरी है।

क्या देव-शास्त्र-गुरु की रक्षा उनके स्वरूप को जाने विना ही हो जावेगी ? वे तो अपने स्वरूप में सदा सुरक्षित ही हैं, उन्हें हमारी सुरक्षा की आवश्यकता नहीं है। यदि हमें अपनी सुरक्षा करनी हो तो उनके सही स्वरूप को समझें। इसमें ही हमारी और हमारे धर्म की सुरक्षा है। धर्म-रक्षा की बात करने वालों को थोड़ा-बहुत ध्यान इस ओर भी देना चाहिए।

आगे चलकर उसी प्रवचनसार की ८२वीं गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य घोषणा करते हैं :–

"सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ।।

सभी अरहंत भगवानों ने उसी विधि से कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया है और अन्य आत्माओं को परमात्मा बनने का उपदेश भी वही दिया है अर्थात् वही मार्ग बताया है। – ऐसे अरहंतों को नमस्कार हो।"

उसी विधि से अर्थात् ८०-८१वीं गाथा में बताई गई विधि से उन्होंने स्वयं मोक्ष प्राप्त किया तथा उपदेश भी वही दिया।

८०-८१वीं गाथा में बताया गया है कि जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह नष्ट होता है; तत्पश्चात् राग-द्वेष को छोड़कर शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है अर्थात् पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त करता है।

यही विधि सर्वज्ञता प्राप्त करने की है, जिससे सभी अरहंतों ने सर्वज्ञता प्राप्त की है और प्राप्त करने का उपदेश दिया है। प्रवचनसार गाथा ८२ की टीका ही में आचार्य अमृतचन्द्र ने तो यहाँ तक कहा है कि सर्वज्ञता प्राप्त करने का प्रकारान्तर असंभव है।

अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :–

"अधिक प्रलाप से बस होओ, मेरी मति व्यवस्थित हो गई है।"[1]

तथा ८२वीं गाथा की ही उत्थानिका में वे कहते हैं :–

"भगवन्तों द्वारा अनुभूत एवं बताया गया यही एक मोक्ष का पारमार्थिक मार्ग है, इसप्रकार बुद्धि को व्यवस्थित करते हैं।"[2]

अरे भाई! जिसकी बुद्धि अव्यवस्थित है उसे जगत अव्यवस्थित दिखाई देता है। जैसे चलती रेल में बैठे व्यक्ति को जमीन चलती नजर आती है, पर जब विवेक से विचार करता है तो प्रतीत होता है कि जमीन तो अपनी जगह पर स्थिर है, चल तो मैं ही रहा हूँ। उसीप्रकार अव्यवस्थित मतिवाले को जगत अव्यवस्थित नजर आता है, यदि गम्भीरता से विचार करे तो पता चल सकता है कि जगत को व्यवस्थित नहीं करना है, वह तो व्यवस्थित ही है; मुझे अपनी मति व्यवस्थित करनी है।

---

[1] अलमथवा प्रलपितेन। व्यवस्थिता मतिर्मम।
– प्रवचनसार गाथा ८२ की टीका

[2] अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति। –प्रवचनसार गाथा ८२ की उत्थानिका

पर ये अव्यवस्थित मतिवाले लोग जगत को व्यवस्थित करने के विकल्पों में ही उलझे हैं; ज्यों-ज्यों सुलझने का यत्न करते हैं और अधिक उलझते जाते हैं। क्योंकि जहाँ अव्यवस्था है, वहाँ उनका ध्यान ही नहीं है; और जहाँ सब-कुछ पूर्ण व्यवस्थित है, जहाँ कुछ भी फेर-फार संभव नहीं है; वहाँ के व्यवस्थापक बनने की धुन में विकल हो रहे हैं, और तब तक होते रहेंगे जब तक कि स्वयं अपनी मति को वस्तुस्वरूप के अनुकूल व्यवस्थित नहीं करेंगे।

एक बात यह भी तो है कि कर्त्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त प्राणियों की मति व्यवस्थित हो भी तो नहीं सकती। क्योंकि व्यवस्थापक बनने की धुन में मस्त जगत यह स्वीकार कैसे कर सकता है कि जगत स्वयं व्यवस्थित है।

यदि जगत को स्वयं व्यवस्थित मान लेंगे तो वे व्यवस्थापक कैसे रहेंगे, किसके रहेंगे ? उनके व्यवस्थापक बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि जगत अव्यवस्थित हो, अन्यथा वे व्यवस्था किसकी करेंगे, क्या करेंगे ? यही कारण है कि व्यवस्थापकों की समझ में व्यवस्थित-व्यवस्था नहीं आ सकती, क्योंकि उससे उनके अहं को चोट लगती है, व्यवस्थापकत्व का अधिकार छिनता है।

व्यवस्थापक को तो एक अव्यवस्थित जगत चाहिए, जिसकी व्यवस्था वह करे और शान से व्यवस्थापक बना रहे। यही कारण है कि सुनिश्चित स्वयंचालित व्यवस्था जगत को समझ में नहीं आती और उसकी मति व्यवस्थित नहीं होती।

'सर्वज्ञता' और 'क्रमबद्धपर्याय' की श्रद्धा – प्रतीति बिना मति व्यवस्थित हो ही नहीं सकती।

चाहे कितना ही ईमानदार व्यवस्थापक क्यों न हो, व्यवस्थापक द्वारा की गई व्यवस्था कभी भी पूर्ण व्यवस्थित, सही व न्यायसंगत नहीं हो सकती; स्वयंचालित व्यवस्था ही पूर्ण व्यवस्थित, सही व न्यायसंगत होती है।

एक तुलने की मशीन है, जिसमें दश पैसे का सिक्का डालने से आपका सही वजन ज्ञात हो जाता है। उस मशीन से जितने भी व्यक्ति अपना वजन ज्ञात करेंगे, उतने दश पैसे के सिक्के उसके पेट में अवश्य निकलेंगे। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई पैसा न डाले और अपना वजन ज्ञात करले, चाहे वह उस मशीन का मालिक ही क्यों न हो। उसे भी यदि अपना वजन ज्ञात करना है तो मशीन में सिक्का डालना ही होगा। किन्तु ऐसा आदमी चिराग लेकर ढूंढने पर भी शायद न मिले कि जिसके जिम्मे कांटा कर दिया जाय और कहा जाय कि जो तुले उससे दश पैसे ले लेना। वह स्वयं तुलेगा और पैसा जमा नहीं करेगा, अपने बच्चों को तोलेगा और पैसा नहीं देगा। यह संभव नहीं है कि जितने आदमी उस कांटे पर तुलें, उतने पैसे उसके स्वामी को प्राप्त हो ही जावें।

अतः स्वयंचालित (ऑटोमेटिक) व्यवस्था ही ठीक है, सही है; पर व्यवस्थापक इसे नहीं मानेगा, क्योंकि इससे वह बेकार होता है, उसका कर्त्तृत्व छिनता है, अहंकार टूटता है। यही कारण है कि उसकी मति व्यवस्थित नहीं हो पाती।

व्यवस्थित-व्यवस्था में बेईमानी संभव नहीं है। यही कारण है कि जो नियमितक्रम अर्थात् व्यवस्थित-व्यवस्था को भंग कर समय के पहिले काम कर लेने की भावना रखते हैं, उन्हें व्यवस्थित-व्यवस्था सहज स्वीकार नहीं होती।

"पैसे से आज क्या नहीं हो सकता, पैसों से क्या नहीं मिल सकता? पैसा एक ऐसी शक्ति है जिसके सामने कोई नियम नहीं चल सकता। उसके सामने सब व्यवस्थाऐं बेकार हैं। पैसों के बल पर मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ। पैसों से सारी व्यवस्थाऐं बदली जा सकती हैं।" – इसप्रकार के या इसीप्रकार के अन्य किसी अभिमान से ग्रस्त बेईमान जगत की मति का व्यवस्थित होना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। उसे एक व्यवस्थित-व्यवस्था अर्थात् क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति होना आसान नहीं है।

पर भाई ! इस मनुष्य भव में करने योग्य तो एकमात्र यही कार्य है कि हम अपनी मति को व्यवस्थित करें।

सर्वज्ञता के निर्णय से, क्रमबद्धपर्याय के निर्णय से मति व्यवस्थित हो जाती है, कर्त्तृत्व का अहंकार गल जाता है, सहज ज्ञातादृष्टापने का पुरुषार्थ जागृत होता है, पर में फेर-फार करने की बुद्धि समाप्त हो जाती है; इसकारण तत्संबंधी आकुलता-व्याकुलता भी चली जाती है, अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होने के साथ-साथ अनन्त शांति का अनुभव होता है।

सर्वज्ञता के निर्णय और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से इतने लाभ तो तत्काल प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् जब वही आत्मा, आत्मा के आश्रय से वीतराग-परिणति की वृद्धि करता जाता है, तब एक समय वह भी आता है कि जब वह पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता को स्वयं प्राप्त कर लेता है। आत्मा से परमात्मा बनने का यही मार्ग है।

अतः मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु बन्धुओं को मर-पच के जैसे भी बने सर्वज्ञता का सही स्वरूप समझने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। सर्वज्ञता का सही स्वरूप ख्याल में आते ही क्रमबद्धपर्याय स्वयं समझ में आ जाएगी, उसके लिए अलग से कोई यत्न नहीं करना होगा।

पर ध्यान रहे सर्वज्ञता परोन्मुखी वृत्ति से समझ में आने वाली वस्तु नहीं, सर्वज्ञता की पर्याय के सन्मुख हुई दृष्टि से भी सर्वज्ञता नहीं समझी जा सकती; सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के आश्रय से सर्वज्ञता समझ में आती है। सर्वज्ञता का सही स्वरूप समझने के लिए आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ अपेक्षित है। क्रमबद्धपर्याय समझने का भी एकमात्र यही उपाय है।

सभी प्राणी 'क्रमबद्धपर्याय' और 'सर्वज्ञता' का सही स्वरूप समझकर स्वभाव-सन्मुख हों और अनंत शांति व अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करें, कालान्तर में यथासमय सर्वज्ञता को प्राप्त कर परम सुखी हों – इस भावना के साथ विराम लेता हूँ।

जो-जो देखी वीतराग नें, सो-सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यो होसी नहिं क्योंही, काहे होत अधीरा रे।।
जो-जो देखी० ।।१।।

समयो एक बढ़ै नहीं घटसी, जो सुख-दुःख की पीरा रे।
तू क्यों सोच करै मन मूरख, होय वज्र ज्यों हीरा रे।।
जो-जो देखी० ।।२।।

लगै न तीर कमान बान कहुँ, मार सकै नहीं मीरा रे।
तू सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनन्त तो तीरा रे।।
जो-जो देखी० ।।३।।

निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभु को, जो टारे भव भीरा रे।
'भैया' चेत धरम निज अपनो, जो तारे भव नीरा रे।।
जो-जो देखी० ।।४।।

× × × ×

हमकौं कछू भय ना रे, जान लियौ संसार।।
हमकौं कछू भय ना रे० ।।

जो निगोद में सो ही मुझ में, सो ही मोख मंझार।
निश्चय भेद कछू भी नाहीं, भेद गिनै संसार।।
हमकौं कछू भय ना रे० ।।१।।

परवश ह्वै आपा विसारि कै, राग-दोष कौ धार।
जीवत-मरत अनादि काल तें, यौं ही है उरझार।।
हमकौं कछू भय ना रे० ।।२।।

जाकरि जैसैं जाहि समय में, जो होतब जा द्वार।
सो बनिहै टरिहै कछु नाहीं, करि लीनौं निरधार।।
हमकौं कछू भय ना रे० ।।३।।

अगनि जरावै पानी बोवै, विछुरत मिलत अपार।
सो पुद्‌गलरूपी मैं 'बुधजन', सबकौं जाननहार।।
हमकौं कछू भय ना रे० ।।४।।

द्वितीय खण्ड

क्रमबद्धपर्याय : कुछ प्रश्नोत्तर

आज के इस बहुचर्चित विषय 'क्रमबद्धपर्याय' की विस्तृत चर्चा के उपरान्त भी कुछ शंकाएँ, आशंकाएँ और प्रश्न उपस्थित किये जाते रहे हैं।

गत एक वर्ष से आत्मधर्म के सम्पादकीयों एवं प्रवचनों के माध्यम से क्रमबद्धपर्याय की चर्चा निरन्तर चलती रही है। इस 'क्रमबद्ध' वर्ष (सन् १९७९ ई०) में इसका प्रचार व प्रसार भी बहुत हुआ है। अतः अनेकानेक अभ्यासी आत्मार्थी बन्धुओं की ओर से भी कुछ स्पष्टीकरण चाहने वाले प्रश्न निरन्तर आते रहे हैं।

यद्यपि 'क्रमबद्धपर्याय : एक अनुशीलन' में बहुत-कुछ स्पष्टीकरण आ गया है तथापि विषय के सर्वाङ्गीण स्पष्टीकरण के लिए उन पर भी विचार कर लेना असंगत न होगा।

इसी भावना से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर यहाँ दिए जा रहे हैं। विषय की पुनरावृत्ति न हो और सभी सम्भावित प्रश्नों के उत्तर भी आ जावें – इस दृष्टि से समागत प्रश्नों को हूबहू न रखकर सभी संभावित प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए इस प्रश्नोत्तरमाला को व्यवस्थित रूप देना उचित प्रतीत हुआ। तदनुसार कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर यहाँ दिये जा रहे हैं :–

(१) **प्रश्न :–** समयसार गाथा ३०८ से ३११ की टीका में समागत जिन पंक्तियों को 'क्रमबद्धपर्याय' के समर्थन में प्रस्तुत किया जाता है, उनका आशय तो मात्र इतना ही है कि जीव, अजीव नहीं है और अजीव, जीव नहीं है। उसमें तो मात्र दो द्रव्यों की भिन्नता बताई है, उसमें से पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं – यह बात कहाँ निकलती है ?

उत्तर :– उक्त पंक्तियों में दो द्रव्यों की मात्र भिन्नता सिद्ध नहीं की गई है, अपितु स्पष्ट कहा गया है कि "जीव क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी अपने क्रमनियमित परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं।"

यहाँ दो द्रव्यों की भिन्नता के साथ-साथ द्रव्यों के परिणमन की व्यवस्था भी बताई गयी है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है, प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता स्वयं है और वह परिणमन भी अव्यवस्थित नहीं है, नियमित है; नियमित ही नहीं, अपितु एक निश्चित क्रम में नियमित अर्थात् बंधा हुआ है, पूर्ण व्यवस्थित एवं निश्चित है।

और अधिक स्पष्ट करें तो इसमें जीव को अकर्त्ता सिद्ध किया गया है, जैसा कि गाथा की उत्थानिका एवं टीका की अन्तिम पंक्ति से स्पष्ट है। जो कि – इसप्रकार हैं :–

"अथात्मनोऽकर्त्तृत्वं दृष्टान्तपुरस्सरमाख्याति।
अब आत्मा का अकर्त्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध करते हैं।"

"अतो जीवोऽकर्त्ता अवतिष्ठते।
इसलिए जीव अकर्त्ता सिद्ध होता है।"

जीव से अजीव की भिन्नता तो जीवाजीवाधिकार में ही स्पष्ट कर आये थे, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में उसकी चर्चा की क्या आवश्यकता थी? यहाँ तो जीव अपने क्रमनियमित परिणामों से स्वयं परिणमता हुआ – बदलता हुआ भी इतना नहीं बदल जाता कि वह अजीव हो जाय – यह बात कही जा रही है। उसके बदलने की भी एक सीमा है, वह अपने में ही बदल सकता है। बदलकर भी अपने रूप ही रहता है, पर-रूप नहीं होता; पर-पदार्थ भी उसरूप नहीं होता।

जो ज्ञानगुण अभी कुमतिज्ञानरूप है, वह बदलकर अगले क्षण सुमतिज्ञान हो सकता है, सुमतिज्ञान से पलटकर ज्ञान अगले क्षण

केवलज्ञानरूप हो सकता है; पर ऐसा कभी नहीं हो सकता कि वह रसरूप हो जाय, रंगरूप हो जाय या सुखरूप होजाय। पर्याय के बदलाव की भी एक मर्यादा है, और वह भी नियमित है; वह हमारी इच्छानुसार नहीं, बल्कि अपने निश्चित क्रमानुसार बदलती है। यह बात यहाँ स्पष्ट की गई है।

एक द्रव्य दूसरे का कुछ भी परिणमन नहीं करता, करे तो वह उसरूप हो जाय अर्थात् जब वह उसरूप होवे तब वह उसे परिणमा सकता है, अन्यथा नहीं। अजीव को परिणमाने-बदलने के लिए जीव को अजीवरूप होना होगा। जब वह स्वयं अजीवरूप हो, तब वह अजीव के परिणमन का कर्ता हो सकता है, और ऐसा कभी होता नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव अपने क्रमनियमित परिणामों में परिणमता-बदलता हुआ जीव ही रहता है, अजीव नहीं हो जाता।

दूसरी बात यह है कि यद्यपि जीव अपने परिणामों का कर्त्ता है, तथापि उसे करने का कुछ बोझा उसके माथे पर नहीं है, क्योंकि वह परिणमन भी सहज होता है और अपने नियमितक्रम में होता है। यही बात यहाँ स्पष्ट की गई है। पुद्गलादि अजीव द्रव्य अपने परिणमन का कोई बोझा नहीं रखते, तो क्या उनका परिणमन रुक जाता है। यदि नहीं, तो फिर जीव ही अपने माथे पर बोझा क्यों रखे ?

परिणमन को निश्चित बताकर द्रव्य-गुण का कुछ अधिकार कम नहीं किया गया है अपितु बोझा हटाया है, क्योंकि वह अपने परिणाम का अधिकृत कर्त्ता और भोक्ता तो है ही।

वस्तुतः बात तो यह है कि जिसप्रकार द्रव्य सत् है, गुण सत् है, उसीप्रकार पर्याय भी सत् है।

द्रव्य और गुणों के बारे में हम सबका विश्वास है कि उनमें कुछ फेर-फार संभव नहीं है, अतः उनके बदलने का हमें विकल्प भी नहीं उठता। पर परिणमनशील होने से पर्याय के सम्बन्ध में जगत की कुछ ऐसी धारणा है कि उसमें फेर-फार किया जा सकता है, अतः उसमें फेर-फार करने की बुद्धि होती है।

द्रव्य-गुण के साथ पर्याय भी स्वसमय की सत् है – उसमें भी अपनी इच्छानुसार कोई फेर-फार नहीं किया जा सकता है। जब हमें यह विश्वास हो जावेगा तो उसमें फेर-फार करने की बुद्धि भी नहीं रहेगी।

पर्याय भी स्वकाल की सत् है, अचला है, पार्वती है, सती है – आदि विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। अतः यहाँ विस्तार देना उपयुक्त नहीं है। फिर भी जो लोग पर्याय को अपनी इच्छानुसार बदलना चाहते हैं, उनसे हम पूछते हैं कि पर्यायों के अनादि-अनन्त प्रवाहक्रम में वे भूतकाल की पर्यायें बदलना चाहते हैं या वर्त्तमान की या भविष्य की ?

भूतकाल की पर्यायें तो बदली नहीं जा सकतीं, क्योंकि वे तो स्वयं बदल चुकी हैं, समाप्त हो चुकी हैं, अतः उनमें तो फेर-बदल की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अब रहीं वर्त्तमान और भविष्य की पर्यायें। वर्त्तमान पर्याय भी हो ही रही है, उसमें भी क्या किया जा सकता है ?

इस पर यदि कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त कोई अज्ञानी कहे कि वर्त्तमान पर्याय में कुछ क्यों नहीं किया जा सकता है ? लो मैं उसे अभी उखाड़ फेंकता हूँ। उससे कहते हैं भाई ! जरा विचार तो करो, वह उत्पन्न तो हो ही गई है, अतः उसे उत्पन्न होने से रोकना तो संभव नहीं है। अब रही बात उखाड़ फेंकने की, सो भाई उसका काल ही एकसमय है। एकसमय बाद वह स्वयं उखड़ जाने वाली है, उसमें तुम्हारा क्या काम ?

दूसरी बात यह भी तो है कि हमारे क्षयोपशमज्ञान में वह पर्याय उत्पन्न होने के असंख्य समय बाद आती है। जब तक हम उसे उखाड़ने की सोचेंगे तब तक तो वह कभी की उखड़ चुकी होगी।

इस पर यदि वह कहे कि न सही भूतकाल की और वर्त्तमान की पर्याय, भविष्य की पर्यायें तो हम बदल ही सकते हैं।

उनसे कहते हैं कि भविष्य की पर्यायें अभी हैं ही कहाँ – जो आप उन्हें बदलेंगे ?

इसपर यदि यह कहा जाय कि भविष्य में बुरी पर्यायें नहीं आने देंगे, अच्छी-अच्छी पर्यायें लावेंगे; तो यह प्रश्न खड़ा होगा कि कौन पर्याय अच्छी है, कौन बुरी – इसका निर्णय कौन करेगा ? विभिन्न रुचय: हि लोक: – इस नीति के अनुसार अच्छे-बुरे का निर्णय भी असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है।

यदि कोई कहे कि हम अपनी रुचि के अनुसार निर्णय करेंगे, उनसे कहते हैं कि यदि आप सिर्फ अपनी ही भावी पर्याय के कर्त्ता बनते तो बात अलग थी; पर आप तो पर-पदार्थों की भी पर्यायें अपने अनुकूल बदलना चाहते हैं, उनमें इष्ट-अनिष्ट का निर्णय मात्र आपकी ही इच्छा से कैसे होगा ? जगत में अन्य प्राणी भी तो हैं, उनकी इच्छा के व्याघात का प्रसंग अवश्य आवेगा।

दूसरे क्या आपको पता है कि भविष्य में अमुक पर्याय आने वाली है जिससे आप यह निर्णय कर सकें कि अमुक पर्याय को बदल कर मैं अमुक पर्याय लाऊंगा। यदि नहीं, तो फिर यह अहंकार झूठा ही सिद्ध हुआ कि मैंने ऐसा नहीं होने दिया और ऐसा किया, क्योंकि जो कार्य सम्पन्न हुआ है – वह नहीं होने वाला था, अन्य होने वाला था – इसका निर्णय कैसे होगा ? हो सकता है – वही होने वाला हो, जिसे आप कहते हैं कि मैंने ऐसा किया है।

बहुत दूर जाकर भी भविष्य की पर्यायों में फेर-फार करने की बात सिद्ध कर पाना संभव नहीं है, अतः व्यर्थ प्रयास से क्या लाभ ?

अन्ततोगत्वा यह स्वीकार करना ही श्रेष्ठ है कि प्रत्येक द्रव्य क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ निजरूप ही रहता है, पररूप नहीं होता।

(२) **प्रश्न :**– यदि कोई किसी को नहीं परिणमाता तो फिर यह परिणमन होता कैसे है, इसे कौन कर जाता है ? यदि कभी यह परिणमन रुक जाय तो ? अथवा कभी धीरे-धीरे हो और कभी तेजी से – इसका नियामक कौन होगा ?

उत्तर :– प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमनशील है, ध्रुवता के समान परिणमन भी उसका स्वभाव है, उसे अपने परिणमन में पर की

रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि स्वभाव पर-निरपेक्ष ही होता है। यह परिणमन कभी रुक जाय – इसका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि परिणमन भी इसका नित्यस्वभाव है। अर्थात् नित्यपरिणमनशीलता प्रत्येक द्रव्य का सहज स्वभाव है। जल्दी और देरी होने की भी कोई समस्या नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पर्याय एकसमय की ही होती है। किसी पर्याय का दो समय रुकने का प्रश्न ही नहीं उठता और एकसमय के पहिले समाप्त होने का भी प्रश्न संभव नहीं है।

अब रही बात यह कि यह सब कौन करता है? उसके सम्बन्ध में बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं, निरन्तर उल्लसित हो रही हैं, उनके द्वारा ही यह सब सहज होता रहता है।

(३) **प्रश्न :–** वे अनन्त शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं, जिनके द्वारा यह सब होता है?

उत्तर :– क्या अनन्त भी गिनाई जा सकती हैं?

(४) **प्रश्न :–** कुछ तो बताइये न?

उत्तर :– भावशक्ति, अभावशक्ति, भावाभावशक्ति, अभावभावशक्ति, भावभावशक्ति, अभावाभावशक्ति आदि।

(५) **प्रश्न :–** पर्यायों के उत्पाद और नाश में इन शक्तियों का क्या योगदान है? कृपया संक्षेप में समझाइये।

उत्तर :– प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी शक्ति है जिसके कारण द्रव्य अपनी वर्त्तमान अवस्था से युक्त होता है, अर्थात् उसकी निश्चित अवस्था होती ही है, जिसे भाव शक्ति कहते हैं।[1] प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी भी शक्ति होती है जिसके कारण वर्त्तमान अवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई अवस्था नहीं होती, इस शक्ति का नाम अभावशक्ति है।[2]

उक्त दोनों शक्तियों के कारण प्रत्येक द्रव्य की प्रतिसमय सुनिश्चित पर्याय ही होती है, अन्य नहीं।

---

[1] भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः। समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट, पृष्ठ ५९०

[2] शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः। वही

(६) **प्रश्न :–** पर्याय को स्वसमय में कौन लाता है और एकसमय बाद कौन हटाता है ? पर्याय स्वसमय में आ ही जावे और अगले समय हट जाये – इसका नियामक कौन है ? यदि पर्याय स्वसमय पर न आये तो उसे कौन लावे और एकसमय बाद भी न हटे तो कौन हटाये ? ऐसी स्थिति में या तो द्रव्य पर्याय से खाली हो जावेगा या एकसमय में दो-दो पर्यायें हो जावेंगी।

उत्तर :– इसकी आप चिन्ता न करें। ऐसा कभी नहीं होगा, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी भी शक्ति है जिसके कारण वर्त्तमान पर्याय का नियम से आगामी समय में अभाव हो जायगा; उस शक्ति का नाम है भावाभावशक्ति।[1] तथा एक शक्ति ऐसी भी है जिसके कारण आगामी समय में होने वाली पर्याय नियम से उत्पन्न होगी ही। इस शक्ति का नाम है अभावभावशक्ति।[2]

जो पर्याय जिस समय होनी है, वह पर्याय उस समय नियम से होगी ही, ऐसी भी एक शक्ति प्रत्येक द्रव्य में है जिसका नाम है भावाभावशक्ति।[3] तथा एक शक्ति ऐसी भी है कि जिसके कारण जो पर्याय जिस समय नहीं होनी है, वह नियम से नहीं होगी, उस शक्ति का नाम है अभावाभावशक्ति।[4]

उक्त छह शक्तियों का स्वरूप यह सुनिश्चित सिद्ध करता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस समय, अपने उपादान के अनुसार जैसी होनी होती है; वह स्वयं नियम से उसी समय, वैसी ही होती है उसमें पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं रहती।

सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम समयसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति टीका के अन्त में परिशिष्ट में समागत ४७ शक्तियों पर श्री कानजीस्वामी के विस्तृत प्रवचन

---

[1] भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः। समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ठ, पृष्ठ ५९१

[2] अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्तिः। वही

[3] भवत्पर्यायभवनरूपा भावभाव शक्तिः। वही

[4] अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्तिः। वही

'आत्मप्रसिद्धि' नाम से हिन्दी में और 'आत्म-वैभव' नाम से गुजराती में प्रकाशित हुए हैं – विशेष जिज्ञासा रखने वाले आत्मार्थी बन्धुओं को अपनी जिज्ञासा वहाँ से शान्त करना चाहिये। यहाँ पर उनकी विस्तृत चर्चा के लिए न तो अवकाश ही है और न वह न्यायसंगत ही है।

(७) **प्रश्न :**– जब हम अपनी पर्याय को भी नहीं बदल सकते तो फिर हमारे परिणमन के कर्त्ता भी हम क्या रहे ?

उत्तर :– 'हम अपनी पर्याय को भी नहीं बदल सकते' – जब यह कहा जाता है तब उसका आशय यह होता है कि हम उसके निश्चित क्रम में कोई फेर-बदल नहीं कर सकते, यह नहीं होता कि उसके परिणमन के कर्त्ता भी हम नहीं हैं। छठवें प्रश्न के उत्तर में जिन छह शक्तियों की चर्चा की गई है वे द्रव्य की स्वशक्तियाँ ही तो हैं, उनके कारण ही तो पर्याय स्वसमय में होती है। इसलिए अपनी पर्याय का कर्त्ता तो द्रव्य है ही।

जिनवाणी में एक अपेक्षा यह भी आती है – जिसमें पर्याय का कर्त्ता पर्याय को कहा जाता है, द्रव्य को नहीं। त्रिकाली उपादान की अपेक्षा पर्याय का कर्त्ता वह द्रव्य या गुण कहा जाता है जिसकी वह पर्याय होती है; और क्षणिक उपादान की अपेक्षा तत्समय की योग्यता ही कार्य की नियामक होने से पर्याय को ही पर्याय का कर्त्ता कहा जाता है। यह पर्याय की स्वतंत्रता की चरम परिणति है, जो उसके सहज क्रमनियमित परिणमन को सिद्ध करती है।

परिणमनशीलता द्रव्य का सहज स्वभाव है और स्वभाव सदा परनिरपेक्ष होता है। अतः प्रत्येक द्रव्य को अपने परिणमन में पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। कोई भी द्रव्य एकसमय को भी परिणमन से खाली नहीं रहता। यदि एकसमय भी परिणमन रुक जाये तो द्रव्य का द्रव्यत्व ही कायम न रहे। द्रवणशीलता – परिणमन-शीलता का नाम ही द्रव्य है।

परिणमन-स्वभाव के अभाव में स्वभाववान द्रव्य की सत्ता के अभाव का प्रसंग भी उपस्थित हो जाएगा। जिसप्रकार शरीर में जो खून दौड़ता है, यदि वह दौड़ना बन्द कर दे तो हृदयगति रुक जाने से

मनुष्य को मौत का प्रसंग उपस्थित हो जाता है; उसीप्रकार यदि किसी द्रव्य का एकसमय को भी परिणमन रुक जाये तो उसकी मौत (अभाव) का प्रसंग उपस्थित होगा। और द्रव्य के अभाव के साथ-साथ विश्व के अभाव का भी प्रसंग आयेगा, क्योंकि छह द्रव्यों के समूह का नाम ही तो विश्व है।

जिसप्रकार खून निरन्तर दौड़ता है, फिर भी थकता नहीं, क्योंकि दौड़ना ही उसका जीवन है, निरन्तर गति करने में ही उसकी सुगति है; उसीप्रकार द्रव्य को निरन्तर परिणमन में कोई कठिनाई नहीं आती, निरन्तर परिणमन ही उसका जीवन है।

उसके लिए यह कोई समस्या नहीं है कि प्रतिसमय नई-नई पर्यायें कहाँ से लायेंगे ? वे स्वभाव में से सहज आती हैं, उन्हें कहीं से लाना नहीं पड़ता; वे परमुखापेक्षी नहीं हैं। यदि उन्हें अन्य की अपेक्षा हो तो द्रव्य पराधीन हो जावे या परिणमन उसका स्वभाव न रहे, क्योंकि स्वभाव को पर की अपेक्षा नहीं होती। जिसमें पर की अपेक्षा हो वह स्वभाव कैसा ?

इसीलिए तो कहा है :—

'यह जगत स्वयं परिणमनशील, केवलीज्ञानी ने गाया है।'

अथवा

'होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।'

(८) **प्रश्न** :— जब हम पर का कुछ कर ही नहीं सकते तो फिर हमारी स्वतंत्रता ही क्या रही ?

उत्तर :— क्या पर में कुछ करने का नाम ही स्वतंत्रता है ? जब यह कहा जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता तब उसका अर्थ आप मात्र इतना ही क्यों लेते हैं कि आप दूसरे का कुछ नहीं कर सकते, यह क्यों नहीं लेते कि आपका भी तो कोई कुछ नहीं कर सकता ?

जब आप यह विचार करेंगे तो आपको स्वतंत्रता अनुभव होगी कि देखो मेरा कोई भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

जब किसी राज्य के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि इस राज्य में कोई किसी को लूट नहीं सकता, मार नहीं सकता, दुःखी नहीं कर सकता; तो यह कोई नहीं कहता कि यह कैसा खोटा राज्य है कि इसमें कोई किसी को लुट नहीं सकता, मार नहीं सकता, दुःखी नहीं कर सकता; बल्कि यह कहता है कि यह कितना अच्छा राज्य है।

जिसप्रकार ऐसा तो कोई हत्यारा या चोर ही कह सकता है कि यह कैसा राज्य है कि इसमें मारने या लूटने की भी स्वतंत्रता नहीं है; उसीप्रकार ऐसा तो कोई कर्तृत्व के अहंकार से ग्रस्त अज्ञानी ही कह सकता है कि यह कैसा वस्तुस्वरूप है कि जिसमें हम पर का कुछ कर ही नहीं सकते।

क्रमबद्धपर्याय की बात तो अनन्त स्वतंत्रता की सूचक है। इसको बुद्धिपूर्वक हृदय से स्वीकार करने वाले को तो अनन्त स्वतंत्रता की प्रतीति होती है। यह जानकर किसको प्रसन्नता नहीं होगी कि हमारा सुख-दुःख, जीवन-मरण, भला-बुरा सब-कुछ हमारे अधिकार में है, उसमें किसी का कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है।

यह जानकर भी जिसको प्रसन्नता न हो, समझना चाहिए या तो वह गुलामवृत्ति का व्यक्ति है या फिर अन्यों को गुलाम बनाकर रखने की वृत्ति वाला है।

'क्रमबद्धपर्याय' में वस्तु की अनंत स्वतंत्रता की घोषणा है।

(६) **प्रश्न :–** ज्ञानी भी तो यह कहते देखे जाते हैं कि मैंने ऐसा किया, वैसा किया?

उत्तर :– हाँ! यह बात सही है कि ज्ञानी के जीवन में भी ऐसा वचन-व्यवहार देखा जाता है, पर उसकी मान्यता ऐसी नहीं होती। मान्यता तो उसकी वस्तुस्वरूप के अनुकूल ही होती है, क्योंकि ऐसा कहना तो व्यवहार है और मानना मिथ्यात्व है।

जिसप्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानीआत्मा स्त्री-पुत्र, मकान, जायदाद आदि संयोगी पदार्थों को अपना कहता देखा जाता है कि यह मेरी स्त्री है, ये मेरे पुत्र, हैं, यह मेरा मकान है – पर मानता यही है कि ये कुछ

भी मेरे नहीं; उसीप्रकार पर में करने आदि का वचन-व्यवहार भी उनके देखा जाता है। कथन मात्र से वे मिथ्यादृष्टि नहीं हो जाते, क्योंकि मिथ्यात्व तो मान्यता संबंधी दोष है।

इस सन्दर्भ में पंडितप्रवर टोडरमलजी के विचार दृष्टव्य हैं :-

"जैसे कोई गुमाश्ता सेठ के कार्य में प्रवर्त्तता है, उस कार्य को अपना भी कहता है, हर्ष-विषाद को भी प्राप्त होता, उस कार्य में प्रवर्त्तते हुए अपनी और सेठ की जुदाई का विचार नहीं करता; परन्तु अन्तरंग श्रद्धान ऐसा हैं कि यह मेरा कार्य नहीं है। ऐसा कार्य करता गुमाश्ता साहूकार है। यदि वह सेठ के धन को चुराकर अपना माने तो गुमाश्ता चोर होय। उसीप्रकार कर्मोदयजनित शुभाशुभरूप कार्य को करता हुआ तद्रूप परिणमित हो; तथापि अन्तरंग में ऐसा श्रद्धान है कि यह कार्य मेरा नहीं है। यदि शरीराश्रित व्रत-संयम को भी माने तो मिथ्यादृष्टि होय।"[1]

(१०) **प्रश्न :**- इसका अर्थ तो यह हुआ कि ज्ञानी की मान्यता और कथन में अन्तर होता है?

उत्तर :- हाँ, अवश्य होता है; पर इसका कारण ज्ञानी के हृदय की अपवित्रता नहीं, अपितु वस्तु की स्थिति है। क्योंकि ज्ञानी की मान्यता तो वस्तुस्वरूप के अनुसार होती है और वचन-व्यवहार लोकप्रचलित व्यवहार के अनुसार होता है।

वस्तुस्वरूप की अपेक्षा विचार करें तो स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद किसी के नहीं हैं, फिर भी लोक में इन्हें अपने कहने का व्यवहार प्रचलित है। मान्यता का सम्बन्ध सीधा वस्तुस्वरूप से है और वाणी का व्यवहार लौकिकजनों से होता है। अत: ज्ञानी की मान्यता तो वस्तुस्वरूप के अनुसार होती है और वचन-व्यवहार लोक-व्यवहार के अनुसार होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार की आत्मख्याति टीका के आरम्भ में लिखते हैं कि "इस टीका के करने से मेरी परिणति परमविशुद्धि को

---

[1] रहस्यपूर्ण चिट्ठी (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३४२)

प्राप्त हो ।"[1] और टीका के अन्त में लिखते हैं कि "इस टीका के बनाने में स्वरूपगुप्त अमृतचंद्र आचार्य का कुछ भी कर्त्तृत्व (कार्य) नहीं है ।"[2]

इसीप्रकार की चर्चा पण्डित टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की पीठिका एवं प्रशस्ति में की है। पीठिका में तो टीका लिखने की चर्चा करते हैं एवं लिखने के प्रयोजन आदि को विस्तार से स्पष्ट करते हैं। तथा अन्त में प्रशस्ति में लिखते हैं :-

बचनादिक लिखनादिक क्रिया, वर्णादिक अरु इन्द्रिय हिया।
ये सब हैं पुद्गल के खेल, इनमें नाहिं हमारो मेल ।।
रागादिक वचनादिक घनां, इनके कारण कारिज पनां।
तातैं भिन्न न देख्यो कोय, बिनु विवेक जग अंधा होय ।।
ज्ञान राग तो मेरौ मिल्यौ, लिखनौ करनौ तनु को मिल्यौ।
कागज मसि अक्षर आकार, लिखिया अर्थ प्रकाशन हार ।।
ऐसौ पुस्तक भयो महान, जातैं जानें अर्थ सुजान।
यद्यपि यहु पुद्गल कौ खंद, है तथापि श्रुतज्ञान निबंध ।।[3]

आचार्य अमृतचन्द्र और पण्डित टोडरमलजी – दोनों ही ज्ञानी आत्मा थे। उनके उक्त कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें कोई छल नहीं है। जबतक वचन-व्यवहार है, तबतक मान्यता और वाणी का यह अन्तर तो रहेगा ही।

क्षायिकसम्यग्दृष्टि भरतादि चक्रवर्ती भी छहखण्ड की विभूति को अपनी कहते ही थे, पर मानते नहीं थे। यह चौथे, पांचवें और छठवें गुणस्थान की भूमिका में पाया जाने वाला पर्यायगत सत्य है – इसे जानना भी आवश्यक है। इस सत्य की स्वीकृति विना इसप्रकार की शंका बनी ही रहेगी।

---

[1] परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा –
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते –
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ।।३।।

[2] स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ।।२७८।।

[3] मोक्षमार्गप्रकाशक, प्रस्तावना, पृष्ठ २१

(११) प्रश्न :- जब सुख-दुःख, जीवन-मरण सब कुछ नियत हैं, स्वकाल में ही होते हैं, तो फिर अकालमृत्यु नाम की तो कोई चीज ही नहीं रही; जबकि शास्त्रों में अकालमृत्यु की चर्चा आती है, तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के अन्तिम सूत्र में अकालमृत्यु की बात साफ-साफ लिखी है ?

उत्तर :- विषभक्षणादि द्वारा होने वाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहा जाता है। यह कथन आयु की उदीरणा या अपकर्षण की अपेक्षा किया जाता है; अथवा अपेक्षित आयु से पहले होने वाले मरण की अपेक्षा यह कथन होता है, वस्तुस्थिति की अपेक्षा नहीं; क्योंकि केवली भगवान के ज्ञान में तो जिसकाल उसका मरण होना ज्ञात हुआ था, उसी काल में हुआ है; अतः वह भी स्वकालमरण ही है, अकालमरण नहीं।

तत्त्वार्थसूत्र में भी आयुकर्म की स्थिति के अपकर्षण की बात ही कही गई है। तत्त्वार्थसूत्र के जिस सूत्र में उक्त चर्चा है, वह इसप्रकार है :-

"औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।।[1]

उपपाद जन्मवाले देव और नारकी, चरमोत्तम देहवाले अर्थात् उसी भव से मोक्ष जाने वाले और असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमियों की आयु अपवर्तन रहित होती है, अर्थात् उनकी आयु का उसी भव में अपकर्षण नहीं होता।

आयु दो प्रकार की होती है - (१) भुज्यमान आयु और (२) वध्यमान आयु।

जिस आयु को जीव वर्त्तमान में भोग रहा है, उसे भुज्यमान आयु कहते हैं और जो आयु वंध तो गई है, पर जिसका उपभोग अगले भव में होगा, उसे वध्यमान आयु कहते हैं।

वध्यमान आयु की स्थिति में तो सभी का अपकर्षण हो सकता है, पर भुज्यमान आयु का अपकर्षण उक्त सूत्र में कथित जीवों के नहीं होता है - यह वताना उक्त सूत्र का उद्देश्य है।

---

[1] अध्याय २, सूत्र ५३

राजा श्रेणिक ने तेतीस सागर की नरकायु की स्थिति वांधी थी और उसका अपकर्षण होकर चौरासी हजार वर्ष की रह गई, पर यह पूर्व भव में ही हुआ; नरकायु का उपभोग आरंभ होने के बाद उसका अपकर्षण संभव नहीं है। जबकि उक्त सूत्र में कथित जीवों को छोड़कर अन्यजीवों की आयु का अपकर्षण उसी भव में भी हो जाता है।

यह सम्पूर्ण चर्चा आयु के अपकर्षण की है, इससे क्रमवद्धपर्याय की निश्चितता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

जैसे जब हम किसी दुकानदार के पास खरीदा हुआ सामान पसंद न आने पर वापिस करने जाते हैं, तो वह पैकिटबंद सामान तो सभी वापिस कर लेता है, पर पैकिट खुल जाने पर कुछ सामान तो वापिस कर लेता और कुछ नहीं करता है; उसीप्रकार जिस आयु का उपभोग आरंभ नहीं हुआ है, उसमें तो सभी में अपकर्षण संभव है, पर उपभोग आरंभ हो जाने पर उक्त सूत्र में कथित आयु का अपकर्षण संभव नहीं है, यही बात उक्त सूत्र में बताई गयी है।

इससे काल की नियमितता में कोई अंतर नहीं आता और न ही अन्य समवायों की उपेक्षा ही होती है, क्योंकि आयु का अपकर्षण भी तो अन्य समवायों की सापेक्षता से होता है।

वस्तुतः यह कथन अकालमृत्यु का न होकर आयु के अपकर्षण का है।

इस सन्दर्भ में जैनेन्द्रसिद्धान्तकोशकार श्री जिनेन्द्रवर्णी का निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है :–

"पांचवां प्रश्न है अकालमृत्यु सम्बन्धी। समय से पहले विषभक्षण आदि से होने वाली मृत्यु को 'अकालमृत्यु' कहते हैं। कर्मसिद्धान्त के अन्तर्गत पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति आदि के घटने-बढ़ने को 'अपकर्षण' व 'उत्कर्षण' कहते हैं और प्रकृति के बदल जाने को 'संक्रमण' कहते हैं। समय से पहले कर्म को उदय में लाना 'उदीरणा' कहलाती है और समय से पहले उन्हें झाड़ देना 'निर्जरा' कहलाती है।

आगमकथित ये सब विषय नियति के बाधक हैं, ऐसी आशंका भी करनी योग्य नहीं, क्योंकि उसका उत्तर तो वही उपरोक्त विकल्प है, जिसके आने पर तदनुरूप ही प्रवृत्ति स्वतः होती है। तीव्रकोध

आने पर ही विषभक्षण आदि का कार्य होता है, उसके अभाव में नहीं। इसीप्रकार अपकर्षण, उदीरणा व निर्जरा आदि के सम्बन्ध में भी जानना। क्योंकि अकालमृत्यु का अर्थ आयुकर्म की उदीरणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अकाल तो केवल इसलिए कही जाती है कि जितनी आयु बंधी, उतनी स्थिति पूरी नहीं की। वास्तव में कोई भी कर्म ऐसा नही जिसकी स्थिति बन्ध के अनुसार ही उदय में आती हो। बुद्धिहीन सूक्ष्म प्राणियों में भी ये उत्कर्षण आदि बराबर हो रहे हैं। जैसा-जैसा विकल्प उस-उस समय आता है, वैसी-वैसी प्रवृत्ति ही उस-उस समय होती है, तत्फलस्वरूप वैसा-वैसा ही नवीन बन्ध व उत्कर्षण आदि होता है। उत्कर्षण आदि के परिणाम कोई और हों और बन्ध के कोई और – ऐसा नहीं है। एकसमय के जिस एक परिणाम या प्रवृत्ति से बन्ध होता है, उसी से उसीसमय यथायोग्य उत्कर्षण, अपकर्षण आदि भी होते हैं; अतः इनसे नियति बाधित नहीं हो सकती।[1]"

(१२) **प्रश्न :–** आप ऐसा क्यों कहते हैं कि केवली के ज्ञानानुसार प्रत्येक मृत्यु स्वकाल में ही होती है, क्योंकि इससे तो ऐसी ध्वनि निकलती है कि किसी अपेक्षा अकालमृत्यु भी होती होगी ?

उत्तर :– होती तो क्या है, कही अवश्य जाती है। अपकर्षण, उदीरणा आदि की अपेक्षा इसप्रकार का कथन होता है। इसे क्षयोपशम ज्ञान की अपेक्षा भी कह सकते हैं।

जैसे – एक घड़े में दश लीटर पानी है और उसमें एक छेद भी है, जिसमें से वह पानी एक घंटे में एक लीटर की रफ्तार से निकल रहा है।

यदि गणितज्ञ से पूछा जाए कि वह घड़ा कितने समय में खाली हो जावेगा तो वह अपने गणितानुसार दश घंटे ही बतायेगा जो कि सही ही है, पर यदि किसी भी भविष्यज्ञानी से पूछा जाए कि वह घड़ा कब तक खाली हो जावेगा तो वह यह भी बता सकता है कि पाँच घंटे में। क्योंकि उसे यह भी पता है कि पाँच घंटे बाद एक बालक की ठोकर से यह घड़ा ढुलक जाएगा और पानी निकल जावेगा।

---

[1] शांतिपथदर्शन, पृष्ठ १२३

अब गणित की अपेक्षा उसे असमय में खाली होना कहा जाएगा और भविष्यज्ञानी अथवा वस्तुस्थिति की अपेक्षा यह कहा जाएगा कि उसकी नियति ही यह थी; अतः स्वसमय में अपनी होनहार के अनुसार उचित निमित्तपूर्वक ही सब-कुछ घटित हुआ है।

इसीप्रकार जैसे किसी अपराधी को दश वर्ष की सजा हुई है - जब उसने न्यायाधीश से, वकील से, जेलर से पूछा कि मैं जेल से कब छूटूंगा ? तो सभी ने एक स्वर से यही उत्तर दिया कि दश वर्ष बाद। और इस कथन को झूठ भी नहीं कहा जा सकता है। पर जब किसी भी भविष्यज्ञानी से पूछा जाएगा तो वह यह भी कह सकता है कि पाँच वर्ष बाद, क्योंकि उसे पता है कि पाँच वर्ष बाद राजा के पुत्र का जन्म होगा और उसकी खुशी में सभी कैदी छोड़ दिये जावेंगे और यह भी छूट जावेगा।

न्यायाधीशादि का कथन फैसले में दी गई सजा के आधार पर है और भविष्यवक्ता का कथन वास्तविकता के आधार पर है, अतः वह वास्तविक है और न्यायाधीशादि का सापेक्ष।

उसीप्रकार किसी जीव ने आयुकर्म की स्थिति अस्सी वर्ष की बांधी है और चालीस वर्ष की उम्र में उसका अपकर्षण होना है या उसे उदीरणा होकर खिर जाना है। बीस वर्ष की उम्र में उसने अवधिज्ञानी से जिसका कि भविष्य का ज्ञान दश वर्ष से अधिक नहीं है, पूछा कि इसका मरण कब होगा ? उसने अपने अवधिज्ञान से उसकी आयु की स्थिति जानकर बताया कि अस्सी वर्ष की उम्र में। पर जब केवलज्ञानी से पूछा तो उन्होंने बताया चालीस वर्ष की उम्र में; तो हमें दोनों में से कोई एक झूठा लगेगा। पर ये कथन झूठे नहीं, किन्तु सापेक्ष कथन होंगे।

अवधिज्ञानरूप क्षयोपशमज्ञान की अपेक्षा उसे हम अकालमृत्यु कहेंगे और केवलज्ञान की अपेक्षा स्वकाल में ही मरण हुआ कहा जायगा।

अथवा स्वास्थ्य आदि देखकर हम अपेक्षा तो यह रखते हैं कि यह आदमी अस्सी वर्ष जियेगा, पर विषादिभक्षण से जब वह चालीस वर्ष की उम्र में ही मर जाता है तो कह देते हैं - असमय में मरण हो गया है। हमारे इस ज्ञान का क्या आधार है कि उसे

चालीस वर्ष से अधिक जीना था ? बिना इस ज्ञान के उसे अकाल कहना कथनमात्र के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मरण तो जब होना था तभी हुआ है, उसमें कोई फेर-फार नहीं हुआ। जो कुछ भी अन्तर आया है, वह मात्र कथन में आया है।

जिन शब्दों में 'अ' लगाकर निषेधवाचक बनाया जाता है, उनमें 'अकाल' भी एक शब्द है, जिसका अर्थ समय से पहिले न होकर काल से भिन्न कोई अन्य कारण होता है। क्योंकि इस प्रकरण में 'काल' शब्द का प्रयोग एक कारण के अर्थ में हुआ है।

मृत्युरूपी कार्य होने में अनेक कारण होते हैं, उनमें काल भी एक कारण है। कथन में अनेक कारण तो एक साथ आ नहीं सकते, अतः किसी एक कारण को मुख्य करके कथन होता है। जब काल को मुख्य करके कथन होता है, तब उसे कालमृत्यु कहते हैं और जब काल मुख्यकारणरूप से दिखाई न दे और काल से भिन्न विष भक्षणादि कोई अन्य कारण मुख्य दिखाई दें तो उसे अकालमरण कहेंगे। अकालमृत्यु की परिभाषा में कहा भी गया है कि विष भक्षणादि के द्वारा होने वाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहते हैं।

इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि 'अकाल' शब्द असमय का सूचक न होकर काल के अतिरिक्त अन्य कारणों का द्योतक है।

जब हम किसी के मरने पर पूछते हैं कि कल तक तो वह ठीक था, आखिर उसे अचानक हुआ क्या ? तो यही उत्तर मिलता है कि कुछ नहीं, समझ लो उसका काल ही आ गया था। जिसका काल आ जाय, उसे कौन बचा सकता है ? फिर कोई कारण का पता चलता तो उसका इलाज भी किया जाता।

तथा यदि कोई विषभक्षण, एक्सीडेंट आदि अन्य कारण दिखाई देता है तो कोई यह नहीं कहता कि उनका काल ही आ गया था, अपितु यह कहा जाता है कि घर से तो अच्छे चले थे, पर एक्सीडेंट हो गया या किसी ने जहर दे दिया अथवा और जो कुछ हुआ होता है, कहा जाता है। साथ में यह भी कहा जाता है कि भाई वे तो वेचारे अकालमौत के शिकार हो गए।

इसप्रकार अकालमृत्यु असमय की सूचक न होकर काल के अतिरिक्त मुख्यरूप से अन्य कारणों से होने वाली मृत्यु की सूचक है।

इसप्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अकालमृत्यु के कथन से 'क्रमबद्धपर्याय' की मान्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

(१३) **प्रश्न :–** यदि ऐसा मानें तो क्या हानि है कि केवली के ज्ञानानुसार सब-कुछ क्रमबद्ध है और हमारे ज्ञानानुसार अक्रमबद्ध, क्योंकि केवली को भविष्य का ज्ञान है और हमें नहीं ? ऐसा मानने से अनेकान्त भी सिद्ध हो जाता है।

उत्तर :– हमारे मानने से वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का थोड़े ही हो जावेगा, वह तो जैसा है, वैसा ही है; और हमें भी तो उसे वैसा ही समझना है, जैसा कि वह है; अपनी मान्यता थोड़े ही उस पर लादना है।

केवली भगवान का ज्ञान पर्यायों की क्रमबद्धता को स्पष्ट देखता-जानता है और हम उसे आगम से, अनुमान से, युक्ति से जानते हैं। वे यह भी स्पष्ट जानते हैं कि किस द्रव्य की कौनसी पर्याय कब और कौनसी विधि से व किस निमित्तपूर्वक कैसी होगी और हम मात्र यह जानते हैं कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव व निमित्त सब-कुछ निश्चित है, पर यह नहीं जानते कि किसका, कब, क्या, कैसे होगा ?

'भविष्य की पर्यायें भी क्रमबद्ध ही होती हैं' – यह ज्ञान होने पर भी यदि हमें यह ज्ञान नहीं है कि किसके बाद कौनसी पर्याय होगी – तो इससे वे अक्रमबद्ध कैसे हो जावेंगी, जिससे हम यह कह सकें कि हमारे ज्ञानानुसार पर्यायें अक्रमबद्ध होती हैं।

इससे तो हमारी अज्ञानता ही सिद्ध होती है, पर्यायों की अक्रमबद्धता नहीं। हमें अपने अज्ञान को पर्यायों पर थोपने का क्या अधिकार है ?

जरा विचार तो करो ? रविवार आदि सात वारों का एक क्रम निश्चित है। कुछ व्यक्तियों को उनके क्रम का ज्ञान है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि किस बार के बाद कौनसा वार आता है और यह भी जानते हैं कि भविष्य में भी इसी क्रम से ये वार आवेंगे, पर

कुछ लोगों को इस बात का ज्ञान नहीं है। तो क्या जिन लोगों को ज्ञान है, उनके ज्ञानानुसार वार क्रमबद्ध होंगे और जिन्हें ज्ञान नहीं है, या गलत ज्ञान है उनके ज्ञानानुसार वे अक्रमवद्ध या अनिश्चित हो जावेंगे।

मुझे विश्वास है – यह बात आपको भी स्वीकार न होगी, क्योंकि उनके ज्ञान, अज्ञान या गलत ज्ञान का वारों पर क्या असर होने वाला है ? वे तो अपने निश्चित क्रमानुसार ही होंगे; उसीप्रकार पर्यायों की क्रमबद्धतारूप वस्तुस्थिति को केवली के ज्ञान और क्षयोपशम ज्ञानवालों के ज्ञान या अज्ञान से क्या अन्तर पड़ता है, वे तो जैसी हैं वैसी ही रहेंगी।

ज्ञान, अज्ञान, अल्पज्ञान पूर्णज्ञान, मिथ्याज्ञान, की स्थितियों से वस्तु की स्थिति का कोई सम्बन्ध नहीं है, इनसे उसमें कोई फरक नहीं पड़ता। वल्कि वस्तु की जो स्थिति है, उसके अनुसार ही ज्ञान जानता है – अर्थात् उसे जो सही जानता है, वह सही ज्ञान है; जो पूर्ण जानता है वह पूर्ण ज्ञान है; जो अपूर्ण जानता है वह अपूर्ण ज्ञान है; जो मिथ्या जानता है वह मिथ्याज्ञान है; और जो नहीं जानता है वह अज्ञान है।

अतः यह कहना कि केवली के ज्ञान के अनुसार पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं और हमारे ज्ञान के अनुसार अक्रमबद्ध; क्रमबद्धपर्याय का सही स्वरूप समझे विना ही 'मैं भी सही और तू भी सही' जैसी उभयाभासी वालचेष्टा है, अनेकान्त नहीं।

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा में सम्मिलित दोनों पक्षों के सभी दिग्गज विद्वानों ने एकमत से यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है। इस बात का उल्लेख जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा में इसप्रकार मिलता है :–

"१. अपर पक्ष द्वारा प्रत्येक कार्य का स्वकाल में होना स्वीकार

इसका प्रारम्भ करते हुए अपर पक्ष ने सर्वप्रथम हमारे द्वारा प्रथम और द्वितीय उत्तर में उल्लिखित जिन पांच आगमप्रमाणों के आधार से यह स्वीकार कर लिया है कि 'प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है' इसकी हमें प्रसन्नता है। हमें विश्वास है कि समग्र जैन

परम्परा इसमें प्रसन्नता का अनुभव करेगी, क्योंकि 'प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है' यह तथ्य एक ऐसी वास्तविकता है, जो जैनधर्म और वस्तुव्यवस्था का प्राण है। इसे अस्वीकार करने पर न तो केवलज्ञान की सर्वज्ञता ही सिद्ध होती है और न ही वस्तुव्यवस्था के अनुरूप कार्य-कारण परम्परा ही सुघटित हो सकती है।

अपर पक्ष ने प्रतिशंका ३ में जिन शब्दों द्वारा स्वकाल में कार्य का होना स्वीकार किया है, वे शब्द इसप्रकार हैं :–

'यह हम जानते हैं कि जिनेन्द्रदेव को केवलज्ञान के द्वारा प्रत्येक कार्य के उत्पन्न होने का समय मालूम है। कारण कि केवलज्ञान में विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों का केवलज्ञानी जीवों को युगपत् ज्ञान कराने की सामर्थ्य जैन संस्कृति द्वारा स्वीकार की गई है। उसी आधार पर यह बात भी हम मानते हैं कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति उसी काल में होती है, जिस काल में है उसकी उस उत्पत्ति का होना केवलज्ञानी जीव के केवलज्ञान में प्रतिभासित हो रहा है।'

२. केवलज्ञान ज्ञापक है कारक नहीं

साथ ही उक्त तथ्य की स्वीकृति के बाद अपर पक्ष की ओर से जो यह भाव व्यक्त किया गया है कि – 'परन्तु किसी भी कार्य की उत्पत्ति जिस काल में होती है उस काल में वह इस आधार पर नहीं होती है कि उस काल में उस कार्य की उस उत्पत्ति का होना केवलज्ञानी के ज्ञान में प्रतिभासित हो रहा है; क्योंकि वस्तु की जिस काल में जैसी अवस्था हो उस अवस्था को जानना मात्र केवलज्ञान का कार्य है, उस कार्य का होना केवलज्ञान का कार्य नहीं है।'

सो यह कथन भी आगम परम्परा के अनुरूप होने से स्वीकार करने योग्य है, किन्तु अपर पक्ष के इस कथन में इतना हम और जोड़ देना चाहेंगे कि – 'जिस प्रकार जिस काल में जो कार्य होता है उसे केवलज्ञान यथावत् जानता है; उसी प्रकार उसकी कारक सामग्री को भी वह जानता है।'

केवलज्ञान किसी कार्य का कारक न होकर ज्ञापक मात्र है इसमें किसी को विवाद नहीं।"[1]

---

[1] जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा, प्रथम भाग, पृष्ठ २४६

इस उल्लेख से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है – यह एक सर्वमान्य तथ्य है।

अब रही बात अनेकान्त की। सो भाई! अनेकान्त वस्तु के स्वरूप में सहज ही घटित होता है, उसे घटित करने के लिए वस्तु-स्वरूप को बलात् विकृत करने की आवश्यकता नहीं है।

'पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, अक्रम नहीं; और गुण अक्रम ही होते हैं, क्रम से नहीं।' – यह विधि निषेधपरक सम्यक् अनेकान्त है। इसे ही और अधिक स्पष्ट करें तो गुणों की अपेक्षा द्रव्य अक्रम (युगपद्) है और पर्यायों की अपेक्षा क्रमबद्ध।

इसप्रकार गुण-पर्यायात्मक वस्तु में क्रम-अक्रम संबंधी अनेकान्त घटित होता है।

जैसा कि आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :-

"क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायः।[1]

और वह समय (आत्मा अथवा कोई भी द्रव्य) क्रमरूप (पर्याय) और अक्रमरूप (गुण) प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्यायों को अंगीकार किया है – ऐसा है।"

यहाँ पर वस्तु को गुण-पर्यायात्मक कहा है तथा गुणों का स्वभाव अक्रम व पर्यायों का स्वभाव क्रमवर्ती कहा है।

यदि पर्यायों में ही क्रम-अक्रम घटित करना अभीष्ट हो तो वह अपेक्षा दूसरी होगी।

प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण की प्रति समय एक पर्याय होती है; इस अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य में एक समय में ही अक्रम अर्थात् एक साथ अनन्त पर्यायें हो जाती हैं। तथा एक गुण की अनन्त समयों में अनन्त पर्यायें होती हैं, वे क्रमशः एक-एक समय में एक-एक ही होती हैं।

इसप्रकार पर्यायों को भी क्रम-अक्रम कहा जा सकता है। पर ध्यान रहे इस अपेक्षा क्रम-अक्रम मान लेने पर भी 'क्रमबद्धपर्याय' में चर्चित पर्यायों की क्रमनियमितता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

---

[1] समयसार गाथा २ की टीका

परम्परा इसमें प्रसन्नता का अनुभव करेगी, क्योंकि 'प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है' यह तथ्य एक ऐसी वास्तविकता है, जो जैनधर्म और वस्तुव्यवस्था का प्राण है। इसे अस्वीकार करने पर न तो केवलज्ञान की सर्वज्ञता ही सिद्ध होती है और न ही वस्तुव्यवस्था के अनुरूप कार्य-कारण परम्परा ही सुघटित हो सकती है।

अपर पक्ष ने प्रतिशंका ३ में जिन शब्दों द्वारा स्वकाल में कार्य का होना स्वीकार किया है, वे शब्द इसप्रकार हैं :-

'यह हम जानते हैं कि जिनेन्द्रदेव को केवलज्ञान के द्वारा प्रत्येक कार्य के उत्पन्न होने का समय मालूम है। कारण कि केवलज्ञान में विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों का केवलज्ञानी जीवों को युगपत् ज्ञान कराने की सामर्थ्य जैन संस्कृति द्वारा स्वीकार की गई है। उसी आधार पर यह बात भी हम मानते हैं कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति उसी काल में होती है, जिस काल में है उसकी उस उत्पत्ति का होना केवलज्ञानी जीव के केवलज्ञान में प्रतिभासित हो रहा है।'

२. केवलज्ञान ज्ञापक है कारक नहीं

साथ ही उक्त तथ्य की स्वीकृति के बाद अपर पक्ष की ओर से जो यह भाव व्यक्त किया गया है कि – 'परन्तु किसी भी कार्य की उत्पत्ति जिस काल में होती है उस काल में वह इस आधार पर नहीं होती है कि उस काल में उस कार्य की उस उत्पत्ति का होना केवलज्ञानी के ज्ञान में प्रतिभासित हो रहा है; क्योंकि वस्तु की जिस काल में जैसी अवस्था हो उस अवस्था को जानना मात्र केवलज्ञान का कार्य है, उस कार्य का होना केवलज्ञान का कार्य नहीं है।'

सो यह कथन भी आगम परम्परा के अनुरूप होने से स्वीकार करने योग्य है, किन्तु अपर पक्ष के इस कथन में इतना हम और जोड़ देना चाहेंगे कि – 'जिस प्रकार जिस काल में जो कार्य होता है उसे केवलज्ञान यथावत् जानता है; उसी प्रकार उसकी कारक सामग्री को भी वह जानता है।'

केवलज्ञान किसी कार्य का कारक न होकर ज्ञापक मात्र है इसमें किसी को विवाद नही।''[1]

---

[1] जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा, प्रथम भाग, पृष्ठ २४६

यहाँ चूंकि पर्याय की चर्चा है, अतः उसपर सम्यक् एकान्त ही घटित होता है। पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं, यह सम्यक् एकान्त है और गुण अक्रमबद्ध (युगपद्) ही होते हैं – यह भी सम्यक् एकान्त है।

गुण और पर्याय – दोनों वस्तु (द्रव्य) के अंश हैं और वस्तु अर्थात् द्रव्य अंशी है। नयरूप सम्यक् एकान्त अंशग्राही होता है और प्रमाणरूप सम्यक् अनेकान्त अंशीग्राही अर्थात् वस्तुग्राही होता है। गुण और पर्याय वस्तु के अंश हैं, अतः वे सम्यक् एकान्तस्वरूप हैं और गुण-पर्यायात्मक वस्तु अंशी होने से अनेकान्तस्वरूप है।

अक्रमवर्ती गुण और क्रमवर्ती पर्याय – इसप्रकार गुण-पर्यायात्मक वस्तु में अनेकान्त घटित होता है।

वैसे तो एक अपेक्षा हम ऊपर पर्यायों में भी क्रमाक्रम घटित कर आये हैं और यह भी बता आये हैं कि अकलंकदेव ने ऐसा प्रयोग किया है, फिर भी यदि आप इसी अपेक्षा अकेली पर्याय में क्रमाक्रम घटाने का हठ करेंगे तो फिर हम आपसे यह भी कह सकते हैं कि अकेली पर्याय में आप नित्यानित्यात्मक अनेकान्त भी घटाइये अथवा अकेले पर्याय रहित द्रव्य में ही नित्यानित्यात्मक अनेकान्त घटाकर बता दीजिए।

आखिर नित्यानित्यात्मक अनेकान्त भी तो गुण-पर्यायात्मक वस्तु में ही घटित होता है, अकेली पर्याय में नहीं, अकेले द्रव्य में भी नहीं।

जैसे – वस्तु द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य। क्या पर्याय रहित अकेले द्रव्य में या अकेली पर्याय में नित्यानित्यात्मकता घट सकती है ? नहीं, तो फिर क्रमाक्रम को भी अकेले द्रव्य या अकेली पर्याय में घटित करने का हठ क्यों ? क्रमाक्रम का अनेकान्त भी गुण-पर्यायात्मक वस्तु में ही घटित होगा।

अनेकान्त का सही स्वरूप समझे बिना चाहे जहाँ उल्टा-सीधा अनेकान्त लगा देना अच्छी बात नहीं है। अनेकान्त को घटित करने के पहिले उसका सही स्वरूप समझ लेना चाहिए।[1]

---

[1] अनेकान्त की विस्तृत जानकारी के लिए लेखक की अन्य कृति 'अनेकान्त और स्याद्वाद' देखिये।

इसप्रकार का कथन तत्त्वार्थराजवार्तिक में आता है, जो कि इसप्रकार है :–

"स च पर्यायो युगपद्वृतः क्रमवृत्तो वा। सहवृत्तो जीवस्य पर्यायः अविरोधात् सहावस्थायी सहवृत्तेः गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमादिः। क्रमवर्ती तु क्रोधादि देवादि-बाल्याद्यवस्था-लक्षणः।[1]

और वह पर्याय युगपत् भी होती है और क्रमवर्ती भी होती है। अविरोध से एक साथ होने वाली जीव की पर्याय एक साथ होने के कारण गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान और संयम आदि सहावस्थायी पर्याय है तथा क्रोधादि, देवादि और बाल्यादि अवस्था-लक्षण क्रमवर्ती पर्याय है।"

'क्रम' और 'अक्रम' शब्दों के अर्थ दो प्रकार से किये जाते हैं। प्रथम तो यह कि क्रम माने क्रमशः अर्थात् एक के बाद एक, और अक्रम माने युगपद् अर्थात् एक साथ। दूसरा यह – क्रम माने एक के बाद एक और वह भी निश्चित एकदम व्यवस्थित तथा इसरूप में कि 'इसके बाद यही, अन्य नहीं'। अक्रम माने अव्यवस्थित, कुछ भी निश्चित नहीं, चाहे जिसके बाद चाहे जो।

उक्त दोनों अर्थों में प्रथम अर्थ के अनुसार ही पर्यायों में क्रम-अक्रम दोनों अपेक्षाएं घटित होती हैं, जबकि प्रस्तुत अनुशीलन में द्वितीय अर्थ की अपेक्षा क्रमबद्धपर्याय का अनुशीलन किया गया है, तदनुसार पर्यायें एक निश्चित क्रमानुसार ही होती हैं, अक्रम से नहीं– ऐसा सम्यक् एकान्त फलित होता है, जो कि स्याद्वादी जैनदर्शन को अभीष्ट ही है।

सम्यक् और मिथ्या के भेद से एकान्त भी दो प्रकार का होता है और अनेकान्त भी दो प्रकार का, जिसकी चर्चा 'क्रमबद्धपर्याय : एक अनुशीलन' में विस्तार से कर आये हैं। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि जैनदर्शन सम्यक् एकान्तवादी और सम्यक् अनेकान्तवादी दर्शन है।

सम्यक् अनेकान्त द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु पर घटित होता है और सम्यक् एकान्त द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु के एक अंश अर्थात् द्रव्य या पर्याय पर घटित होता है।

---

[1] तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय ४, सूत्र ४२, पृष्ठ २५६

इसप्रकार का भाव सापेक्षवाद के प्रबल प्रचारक प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन (Einstein) ने भी व्यक्त किया है। जो कि इसप्रकार है :–

"Events do not happen, they already exist and are seen on the time-machine."

घटनाएँ घटती नहीं हैं; वे पहले से ही विद्यमान हैं, तथा काल-चक्र पर देखी जाती हैं।"

(१५) प्रश्न :– शास्त्रों में एक अकालनय भी तो आता है? कालनय से कार्य स्वकाल में होता है और अकालनय से अकाल में भी हो जाता है – ऐसा मानें तो क्या आपत्ति है?

उत्तर :– अकालनय का अर्थ यह नहीं कि कार्य स्वसमय में न होकर असमय में हो जाता है। कार्य तो पांचों समवायों के मिलने पर ही होता है, पर जब एक कारण को मुख्य करके कथन होता है तब अन्य कारण गौण रहते हैं, उनका अभाव नहीं होता।

जैसे – निसर्गज सम्यग्दर्शन भी देशनालब्धि बिना नहीं होता और अधिगमज सम्यग्दर्शन भी स्वभाव के आश्रय से ही होता है, फिर भी जिसमें उपदेश की मुख्यता होती है उसे अधिगमज और जिसमें उपदेश का प्रसंग प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

उसीप्रकार जिस कार्य की उत्पत्ति में काल को छोड़कर पुरुषार्थादि अन्य समवाय प्रमुख दिखाई देते हैं, उसे अकालनय का विषय कहते हैं तथा जिसमें काल की प्रमुखता दिखाई देती है, उसे कालनय का विषय कहा जाता है। इसी को इसप्रकार व्यक्त किया जाता है कि कालनय से स्वकाल में कार्य होता है और अकालनय से अकाल में।

(१४) **प्रश्न** :– अकालमृत्यु के सन्दर्भ में आपने ही तो घड़े के पानी और अपराधी के जेल से छूटने आदि का उदाहरण देकर यह बताया था कि केवली के ज्ञान के अनुसार तो मरणादि कार्य स्वकाल में ही होते हैं किन्तु ज्योतिष आदि क्षयोपशम ज्ञान के अनुसार जो भी मरणादि संबंधी भविष्य बताया जाता है उसमें आयु के अपकर्षण आदि के द्वारा फेर-फार भी हो जाता है।

इस से तो यह प्रतीत होता है कि केवली के ज्ञानानुसार पर्यायें क्रमबद्ध और हमारे ज्ञानानुसार अक्रमबद्ध होती हैं ?

उत्तर :– उक्त उदाहरणों से तो यह सिद्ध किया गया था कि मरणादि प्रत्येक कार्य (पर्याय) होता तो स्वकाल में ही है, पर उसका कथन दो प्रकार से होता है; यह नहीं बताया था कि कुछ पर्यायें स्वकाल में होती हैं और कुछ अकाल में भी हो जाती हैं।

आयुकर्म की स्थिति के अपकर्षणादि के बिना आयुकर्म की स्थिति पूर्ण होने के उपरान्त होने वाले मरण को कालमरण और आयुकर्म की स्थिति का अपकर्षणादि से होने वाले मरण को अकाल मरण कहा जाता है।

अकालमरण का आशय स्वकाल के बिना होने वाले मरण से नहीं है, अपितु आयुकर्म के अपकर्षणादि से है। आयु के अपकर्षणादि के कारण अकालमरण उसकी संज्ञामात्र है। वास्तव में तो प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है।

मोक्ष एवं सम्यक्त्वरूपी कार्य के संबंध में कलश टीकाकार पाण्डे राजमलजी लिखते हैं :–

"यह जीव इतना काल बीतने पर मोक्ष जायेगा – ऐसी नोंध केवलज्ञान में है।..........यद्यपि सम्यक्त्वरूप जीवद्रव्य परिणमता है तथापि काललब्धि के बिना करोड़ उपाय किये जांय तो भी जीव सम्यक्त्वरूप परिणमन योग्य नहीं।[1]"

कोई भी घटना नवीन घटित नहीं होती, अपितु वह पहिले से ही स्थित है, निश्चित है; वह तो मात्र स्वकाल में प्रगट होती है।

---

[1] समयसार कलश ४ की टीका का भावार्थ

इसप्रकार का भाव सापेक्षवाद के प्रबल प्रचारक प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन (Einstein) ने भी व्यक्त किया है। जो कि इसप्रकार है :—

"Events do not happen, they already exist and are seen on the time-machine."

घटनाएँ घटती नहीं हैं; वे पहले से ही विद्यमान हैं, तथा काल-चक्र पर देखी जाती हैं।"

(१५) प्रश्न :– शास्त्रों में एक अकालनय भी तो आता है ? कालनय से कार्य स्वकाल में होता है और अकालनय से अकाल में भी हो जाता है – ऐसा मानें तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर :– अकालनय का अर्थ यह नहीं कि कार्य स्वसमय में न होकर असमय में हो जाता है। कार्य तो पांचों समवायों के मिलने पर ही होता है, पर जब एक कारण को मुख्य करके कथन होता है तब अन्य कारण गौण रहते हैं, उनका अभाव नहीं होता।

जैसे – निसर्गज सम्यग्दर्शन भी देशनालब्धि बिना नहीं होता और अधिगमज सम्यग्दर्शन भी स्वभाव के आश्रय से ही होता है, फिर भी जिसमें उपदेश की मुख्यता होती है उसे अधिगमज और जिसमें उपदेश का प्रसंग प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

उसीप्रकार जिस कार्य की उत्पत्ति में काल को छोड़कर पुरुषार्थादि अन्य समवाय प्रमुख दिखाई देते हैं, उसे अकालनय का विषय कहते हैं तथा जिसमें काल की प्रमुखता दिखाई देती है, उसे कालनय का विषय कहा जाता है। इसी को इसप्रकार व्यक्त किया जाता है कि कालनय से स्वकाल में कार्य होता है और अकालनय से अकाल में।

इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि कार्य समय के पहले हो गया।

(१६) प्रश्न :– प्रवचनसार में जहाँ कालनय और अकालनय का कथन है, वहां तो आम का उदाहरण देकर साफ-साफ लिखा है :—

"कालनय से आत्मद्रव्य की सिद्धि समय पर आधार रखती है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकने वाले आम की भांति और अकालनय

से आत्मद्रव्य की सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गए आम्रफल की भांति।"[1]

उत्तर :– लिखा तो साफ-साफ ही है, पर उसका अर्थ क्या है ? यह भी विचार किया या नहीं ? कृत्रिम गर्मी से पकाया गया आम समय के पहले पक गया – यह बात कहाँ से आई ? क्या तुम्हें यह पता था कि वह कब पकने वाला था ? हो सकता है कि उसके पकने का काल वही हो, जबकि वह पका है; और उसके पकने का निमित्त भी कृत्रिम गर्मी ही हो। इसकी जानकारी बिना कि उसे कब और कैसे पकना है; आप कैसे कह सकते हैं कि वह समय के पूर्व पक गया है ?

प्रत्येक कार्य के होने का काल ही नहीं, निमित्तादि सभी समवाय निश्चित हैं, और सबके मिलने पर ही कार्य होता है। तथा जब कार्य होना होता है या जो कार्य होना होता है तब वे सभी कारण (समवाय) मिलते ही मिलते हैं। ऐसा नहीं होता कि कभी कोई मिले और कभी कोई। सभी के एक साथ मिलने के कारण ही उन्हें समवाय कहा जाता है।

डाल पर लगे आम के पकने में कृत्रिम गर्मी आदि देने का पुरुष का प्रयत्नादि नहीं दिखाई दिया, अतः यद्यपि उसे कालनय को मुख्य करके काललब्धि आने पर स्वयं पका कहा गया; तथापि उसमें ऋतुकृत गर्मी का निमित्त भी था ही। पाल में पकाये गये आम में कृत्रिम गर्मी दिये जाने रूप पुरुष का प्रयत्न देखा गया, अतः काल को गौण कर अन्य समवाय जैसे पुरुष का प्रयत्नरूप पुरुषार्थ, कृत्रिम गर्मी का निमित्त आदि एकाधिक समवाय की मुख्यता से उसे अकालनय की अपेक्षा अकाल अर्थात् काल से भिन्न अन्य कारणों से पका कहा गया।

यहाँ अकाल का अर्थ असमय या समय के पूर्व नहीं है, अपितु काललब्धि के अतिरिक्त अन्य पुरुषार्थादि समवायों का समुदाय है।

---

[1] कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः।
अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ॥
– प्रवचनसार, परिशिष्ट, पृष्ठ ५२७–२८

काल का अर्थ भी समय मात्र नहीं है, अपितु काललब्धि नामक एक समवाय है। काल को छोड़कर शेष चार समवायों को एक नाम से कहना था तो अकाल के सिवाय और क्या कहा जा सकता था ?

जैसे – जीव से भिन्न पांच द्रव्यों को अजीव कहा जाता है; उसी प्रकार यहाँ काल (काललब्धि) से भिन्न चार समवायों को अकाल कहा गया है। अतः 'कालनय से' का अर्थ है – काललब्धि की अपेक्षा कथन करने पर और 'अकालनय से' का अर्थ है – काललब्धि को छोड़ कर अन्य पुरुषार्थादि समवायों की अपेक्षा कथन करने पर।

बात थोड़ी सूक्ष्म है, पर समझने योग्य है। इसे समझे बिना इसके रहस्य को समझ पाना संभव नहीं है। सूक्ष्म अवश्य है, पर समझ में न आवे – ऐसी नहीं। अतः यदि उपयोग को सूक्ष्म कर श्रद्धापूर्वक समझने का प्रयत्न किया जाए, तो समझ में आ सकती है।

कालनय और अकालनय का 'क्रमबद्धपर्याय' से कोई विरोध नहीं है, अपितु ये नय क्रमबद्धपर्याय के साधक ही हैं।

इस सन्दर्भ में 'जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा' का निम्नलिखित कथन भी दृष्टव्य है :–

"विचार कर देखा जाय तो कालनय में काल की विवक्षा है और अकालनय में काल को गौणकर अन्य हेतुओं की विवक्षा है।

जहाँ अन्य हेतुओं को गौणकर काल की प्रधानता से कार्य को दृष्टिपथ में लिया जाता है, वहाँ वह कालनय का विषय होता है और जहाँ काल को गौणकर अन्य विवक्षा या प्रयोग से प्राप्त हेतुओं की प्रधानता से कार्य को दृष्टिपथ में लिया जाता है, वहाँ वह अकालनय का विषय होता है।

इसप्रकार एक ही कार्य कालनय का भी विषय है और अकालनय का भी। यदि ऐसा न माना जाय तो इन्हें नय वचन कहना संगत न होगा।

स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त कथन से कोई पर्याय क्रमनियत होती है और कोई पर्याय क्रम-अनियत होती है – यह त्रिकाल में सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत इससे यही सिद्ध होता है कि

सभी कार्य क्रमनियत होकर भी वे विवक्षाभेद से काल और अकाल – इन दोनों नयों के विषय हैं।"[1]

(१७) **प्रश्न :–** इसप्रकार के प्रयोग लोक में तो प्रचलित नहीं हैं ?

उत्तर :– क्यों नहीं हैं ? काल के अतिरिक्त अन्य समवाय को अकाल कहने जैसे प्रयोग जिनवाणी में तो मिलते ही हैं, जैसा कि जीव-अजीव वाले उदाहरण से स्पष्ट है, लोक में भी ऐसे प्रयोग प्रचलित हैं। 'अजैन' शब्द भी हम जैन धर्मावलम्बियों को छोड़कर अन्य धर्मवालों के लिए प्रयोग करते ही हैं। अजैन में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी आजाते हैं। जब हम यह कहते हैं कि वह अजैन है तो उसका अर्थ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि कुछ भी हो सकता है।

जब हम यह कहेंगे कि यह काम अजैनों के सहयोग से सम्पन्न हुआ तो हमारे आशय में जैनों को छोड़कर अन्य अनेक सम्प्रदाय वाले ही अपेक्षित होते हैं। जब हमें इसमें कहीं कोई शंका नहीं होती तब अकाल का अर्थ काल के अतिरिक्त बाकी समवाय करने पर भी आपत्ति क्यों ?

अकाल का यह अर्थ आज तक हमारे ध्यान में नहीं आया तो इसका अर्थ यह तो नहीं कि उसका यह अर्थ अनुचित है। हमारे ध्यान में तो बहुत सी बातें नहीं हैं, तो क्या वे मात्र इसलिए गलत हैं कि हमारे ज्ञान में नहीं हैं। वस्तु की व्यवस्था क्या आपके तुच्छ क्षयोपशम ज्ञान के आधार पर संचालित है ?

क्या यह बात विचारणीय नहीं है ? यदि है, तो फिर एक बार गंभीरता से विचार कीजिए। विचार करने पर सब कुछ स्पष्ट हो जावेगा।

(१८) **प्रश्न :–** "सभी-कुछ निश्चित है, उसमें कहीं भी कोई फेर-फार नहीं किया जा सकता" – ऐसा मान लेने पर समागत या संभावित विपत्ति का पता चलते ही समस्त जगत में भय का वातावरण फैल जायगा; क्योंकि 'सभी-कुछ निश्चित' के अनुसार उसे रोकने का प्रयत्न संभव नहीं है।

---

[1] जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा, पुस्तक १, पृष्ठ ३५१–५२

यद्यपि 'सब-कुछ निश्चित' नहीं मानने पर भले ही हमारा किया गया कोई प्रयत्न सफल न हो तथापि सफलता की संभावना से आशा तो बनी रहती है, निराशा का वातावरण तो नहीं बन पाता।

कहावत है कि 'आशा से आसमान लगा है।' तात्पर्य यह है कि सारा संसार आशा से ही चल रहा है; यदि आशा न रहे तो संसार में रहना भी दूभर हो जायगा और कार्य की सफलता के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों के प्रति उत्साह भी नहीं रहेगा।

एक चिड़िया एक-एक तिनका जोड़कर अथक् परिश्रम करके एक घोंसला बनाती है और उसके नष्ट हो जाने पर या नष्ट कर दिए जाने पर फिर उसी प्रयत्न में जुट जाती है। इसका एकमात्र आधार आशा ही तो रहती है, निराश व्यक्ति तो जीवन में कुछ भी नहीं कर सकता; क्योंकि उसका तो मनोबल ही टूट जाता है।

मनोबल टूटा, फिर तो सब-कुछ समाप्त ही समझो; क्योंकि कहा है न कि 'मन के हारे हार है और मन के जीते जीत।'

इसलिए चाहे पर्यायें क्रमबद्ध ही क्यों न होती हों; फिर भी निराशा का वातावरण न बने एवं हमारे हृदयों में आशा का संचार बना रहे – इसके लिए 'क्रमबद्धपर्याय' का सिद्धान्त स्वीकार न करना ही श्रेयस्कर है ?

उत्तर :– वस्तुस्वरूप की सच्ची समझ से भय का वातावरण कैसे बन सकता है ? भय का वातावरण तो अज्ञान और कषाय से बनता है; भय स्वयं एक कषाय है, पच्चीस कषायों में उसका भी नाम आता है।

आध्यात्मिक कवि बुधजनजी तो कहते हैं :–

हमकों कछु भय ना रे, जान लियो संसार ।।
जाकरि जैसे जाहि समय में, जो होतव जा द्वार।
सो बनि है टरिहै कछु नाहीं, करि लीनों निरधार ।।
हमकों कछु भय ना रे०।।३।।

यहाँ पर बुधजनजी अपनी निर्भयता का आधार तो 'क्रमबद्ध-पर्याय' को बता रहे हैं। वे स्पष्ट कह रहे हैं कि हमें कोई भय नहीं रहा है; क्योंकि हमने संसार की सही स्थिति को जान लिया है।

वह सही स्थिति क्या है, जिसे जानकर बुधजनजी निर्भय हो गये हैं।

यही कि जिस द्रव्य की जो पर्याय, जिस समय में, जिसके द्वारा, जैसी होनी है; उसी द्रव्य की, वही पर्याय, उसी समय में, उसी के द्वारा, वैसी ही होगी। उसमें कोई फेर-फार संभव नहीं है, उसमें एक समय भी आगे-पीछे नहीं हो सकता है – यह निरधार (पक्का निर्णय) उन्होंने कर लिया है और इसी के आधार पर वे निर्भय हो गये हैं।

वे सत्य के आधार पर निर्भय हुए हैं; इस कल्पना के आधार पर नहीं कि प्रयत्न करके देखो शायद कुछ फेर-फार हो जाय। वे कल्पना लोक में विचरण करने वाले सामान्यजन नहीं थे, वे तो वस्तु का सत्य स्वरूप समझकर निर्भय होने वाले ज्ञानी आत्मा थे। और वस्तु स्थिति भी यही हैं कि निर्भयता सत्य के आधार पर आती है, कल्पना के आधार पर नहीं।

मानलो कि ज्ञानी और अज्ञानी कहीं एक साथ बैठे हैं। सामने खूंखार नरभक्षी शेर आ गया। अब न तो भागने का ही अवसर रहा और न कोई अन्य उपाय ही उससे बचने का दिखाई देता है। इस अवसर पर ज्ञानी तो उक्त सिद्धान्त के आधार पर धैर्य धारण कर निर्भय रहेगा और अज्ञानी भयाक्रान्त हो जावेगा, यद्वा-तद्वा कुछ भी करने का असफल प्रयत्न करेगा; पर उससे कुछ होने वाला तो है नहीं, होगा तो वही जो होना है।

हो सकता है दोनों ही भगवान का स्मरण करने लगें, णमोकार मन्त्र पढ़ने लगें, दोनों ही निर्भय दिखाई दें। देखने वालों को दोनों एक से ही दिखाई देंगे; जबकि उन दोनों के भावों में महान अन्तर है। वह अन्तर ऊपर से दिखाई नहीं देगा; क्योंकि वह उनके अन्तर का अन्तर है; दोनों के चिन्तन के आधार का अन्तर है। दोनों की निर्भयता का आधार अलग-अलग है।

अज्ञानी सोचता है – मैं णमोकारमन्त्र पढ़ रहा हूँ, भगवान का स्मरण कर रहा हूँ – इसके प्रभाव से अभी देवता आवेंगे और मुझे बचा लेंगे, क्योंकि उसने शास्त्रों में ऐसी कई कथाएँ पढ़ रखी हैं; जिनमें ऐसा लिखा था कि कोई धर्मात्मा संकट में था, उसने णमोकार

मंत्र का स्मरण किया और देवताओं ने उसकी रक्षा कर ली। उसी के आधार पर वह भी आशा लगाये बैठा है, जोर-जोर से णमोकार मन्त्र पढ़ रहा है, ऊपर से निर्भय दिखाई देता है, पर अन्दर से भयाक्रान्त है; क्योंकि उसे यह भी तो पक्का विश्वास नहीं है कि देवता आवेंगे ही। यदि नहीं आये तो.........यह कल्पना ही उसे आन्दोलित किए है। यदि कोई दूसरा उपाय दिखाई देता तो वह निश्चितरूप से णमोकारमन्त्र के भरोसे नहीं बैठा रहता, जान जोखिम में नहीं डालता। उसे णमोकारमन्त्र पर भी पक्का भरोसा नहीं है, उस पर विश्वास करना उसकी मजबूरी है, इसीलिए निर्भय नहीं रह पा रहा है।

णमोकारमन्त्र पढ़ने से कभी किसी धर्मात्मा की रक्षा करने देवता आ गये थे – यह पौराणिक आख्यान सत्य हो सकता है, इसमें शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है, पर इससे यह नियम कहाँ से सिद्ध होता है कि जब-जब कोई संकट में पड़ेगा और वह णमोकार मन्त्र बोलेगा; तब-तब देवता आवेंगे ही, अतिशय होगा ही।

शास्त्रों में तो मात्र जो घटा था, उस घटना का उल्लेख है। उसमें यह कहाँ लिखा है–ऐसा करने से ऐसा होता ही है; यह तो इसने अपनी ओर से समझ लिया है; अपनी इस समझ पर भी इसको विश्वास कहाँ है? होता तो आकुलित क्यों होता, भयाक्रान्त क्यों होता?

ज्ञानी भी णमोकारमन्त्र पढ़ रहा है, शान्त भी है; पर उसकी शान्ति का आधार णमोकारमन्त्र पर यह भरोसा नहीं कि हमें बचाने कोई देवता आवेंगे। णमोकारमन्त्र तो वह सहज अशुभ भाव से तथा आकुलता से बचने के लिए बोलता है। उसकी निर्भयता का आधार तो 'क्रमबद्धपर्याय' की पोषक यही पंक्तियाँ हैं कि :–

हमकौं कछु भय ना रे.....................।

यह इस आशा में निर्भर नहीं है कि देवता बचा लेंगे; इस आधार पर निर्भय है कि मरना होगा तो मरूंगा ही, कोई बचा नहीं सकता और नहीं मरना होगा तो कोई मार नहीं सकता। मरने का समय आ गया होगा तो कोई टाल नहीं सकता और नहीं आया होगा तो बलात् कोई ला नहीं सकता। यदि इसी निमित्त से मरना होगा

तो कोई बदल नहीं सकता और इस निमित्त से नहीं मरना होगा तो कोई मार नहीं सकता।

उसने तो द्रव्यस्वभाव के समान पर्यायस्वभाव को भी अच्छी तरह जान लिया है। 'जान लियो संसार' का यही भाव है। उसी के आधार पर वह निश्चिन्त है।

न उसे द्रव्यस्वभाव में परिवर्तन की कोई इच्छा है और न पर्यायों के परिवर्तन में दखल करने का कोई आग्रह है। थोड़ी-बहुत व्याकुलता भी दिखाई दे, तो समझना चाहिये कि यह चारित्र की कमजोरी है, श्रद्धान का दोष नहीं; क्योंकि उसकी श्रद्धा तो निर्दोष द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर पूर्ण निर्दोष हो गई है।

दूसरे झूठी आशा बनाए रखने के लिए आप सत्य की अस्वीकृति का महानतम अपराध क्यों करना चाहते हो ? और आशा भी दुःख ही है, आशा के रहते आज तक न कोई सुखी हुआ है और न हो ही सकता है। विशेष बात तो यह है कि इसकी पूर्ति भी तो संभव नहीं है।

आचार्य गुणभद्र तो यहाँ तक लिखते हैं :-

"आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ।।३६।।

प्रत्येक प्राणी के इतना बड़ा आशारूपी गड्ढा है कि उसकी पूर्ति के लिए सारा विश्व भी अणु के समान है अर्थात् नहीं के समान है, ऊँट के मुंह में जीरा है। फिर जीव भी तो अनंत हैं और प्रत्येक की ऐसी ही इच्छाएँ हैं; आशाएँ हैं; यदि इस विश्व का बटवारा किया जाय तो किसके हिस्से में कितना आयेगा। इसलिए आशारूपी गड्ढे की पूर्ति तो सम्भव है नहीं, उसकी आशा करना भी वृथा है। सुखी होने का एकमात्र उपाय आशा का अभाव करना ही है।"[1]

आशा के अभाव में निराशा क्यों, अनाशा होगी; आशा के समान निराशा भी दुःखस्वरूप है, पर आशा के अभाव में होने वाली अनाशा सुखस्वरूप है।

तथा आपने यह कहा कि आशा के अभाव में संसार में रहना दूभर हो जावेगा; तो ज्ञानी तो यही चाहते हैं कि संसार में रहना

---

[1] आत्मानुशासनम् श्लोक संख्या ३६

दूभर हो जावे। उन्हें संसार में रहना ही कहाँ है? वे तो संसार का अभाव कर मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं; अतः उन्हें तो यह बात इष्ट ही है।

संसार के कार्यों में उत्साह नहीं रहेगा; तो यह भी अच्छा ही है। यह आत्मा संसार की ओर निरुत्साहित होकर मुक्ति के मार्ग में उत्साहित हो, मुक्ति के मार्ग में लगे – यही तो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का सच्चा फल है। यदि यह होता है तो क्या बुरा होता है?

मनोबल टूटता है तो टूट जाने दो, आत्मबल जगेगा। सांसारिक कार्यों में लगे मनोबल के टूटे बिना आत्मबल जागृत भी तो नहीं होता। संसार में कोई गड़बड़ न हो जाए – इस भय से पर्यायों की क्रमनियमितता के सत्य को स्वीकार करने से इन्कार क्यों करते हो?

भाई! किसी भय या आशंका से इस महान सत्य को स्वीकार करने से इन्कार न करो। चक्रवर्ती की कन्या का टीका आया है; चक्रवर्ती की सुन्दर कन्या तेरे गले में वरमाला डालना चाहती है; इन्कार मत कर! यह बड़े सौभाग्य का अवसर है, इसे मत चूक, अन्यथा पछताना होगा। सभी प्रकार की अशुभ आशंकाओं से विराम ले और एक बार गम्भीरता से विचार करके इस महान सत्य को स्वीकार कर ले; इसमें हमारा कोई स्वार्थ नहीं है; तेरा ही भला है। तेरे भले के लिये ही यह बात कर रहे हैं।

अभी इसप्रकार का भाव है, सो कह भी रहे हैं; यदि कल इस प्रकार का भाव भी न रहा तो न जाने फिर कोई कहने वाला मिलेगा भी या नहीं।

(१९) प्रश्न :– जब सब-कुछ क्रमबद्ध ही है, तो आप व्यर्थ परेशान ही क्यों हो रहे हैं? जब हमारी समझ में आना होगा, आ जावेगा और यदि नहीं आना होगा, तो नहीं आवेगा; आप इतने अधीर क्यों हो रहे हैं? बलात् हमारे माथे इसे क्यों थोपना चाहते हैं?

उत्तर :– 'हम क्यों परेशान हो रहे हैं, इतने अधीर क्यों हो रहे हैं?' – आपका यह संबोधन भी ठीक ही है। हम आपके कारण नहीं, अपने राग के कारण अधीर हो रहे हैं। हम भी चाहते हैं कि हम भी जगत की चिन्ता में व्यर्थ ही अधीर न हों; पर हम क्या करें हमें यह राग आ ही जाता है, आये बिना रहता नहीं है,

और इस भूमिका में यह अनुचित भी नहीं है। वीतरागी भावलिंगी मुनिराजों को भी इसप्रकार का राग आये बिना नहीं रहता, अन्यथा परमागमों की रचना भी कैसे होती। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि यह अच्छा है। आखिर है तो राग ही, है तो अधीरता और आकुलता का उत्पादक ही। उत्पादक क्या, स्वयं आकुलतारूप ही है।

मुनिराजों के समान हमको भी यह राग आये बिना नहीं रहता कि जिस सत्य को हमने समझा है, जिससे हमें अनंत शान्ति मिली है; उस सत्य को सारा जगत समझे और सम्पूर्ण जगत को भी यह अभूतपूर्व शान्ति प्राप्त हो।

(२०) **प्रश्न** :– आपकी भावना तो ठीक है, पर कोई न माने आपकी बात तो आप क्या करेंगे?

उत्तर :– करेंगे क्या? कुछ नहीं। हम 'पर' में कर भी क्या सकते हैं? पर्यायों में फेर-फार करने की बुद्धि से आकुलित जगत को देखकर करुणा आती है। सो जो कुछ जानते हैं – बोलने लगते हैं, लिखने लगते हैं; जिनकी भली होनहार होती है, वे सुनते हैं, समझते हैं, स्वीकार भी करते हैं, सुखी भी होते हैं, शान्त भी होते हैं; और जो लोग नहीं सुनते, नहीं पढ़ते, नहीं विचारते, नहीं स्वीकारते; उनकी होनहार ही ऐसी है – ऐसा जानकर हम भी संतोष धारण करते हैं।

यही रास्ता तो बताया है; हमारे श्रद्धास्पद महापण्डित टोडरमलजी ने। उन्हीं के शब्दों में :–

"जिसप्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जैसे कोढी को अमृत-पान कराये और वह न करे; उसीप्रकार संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो हो नहीं सकती; उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपने को समता आती है।"[१]

स्वभावदृष्टि से प्राप्त होने वाले इस पर्यायगत महान सत्य को जानकर, मानकर सभी आत्माएँ अनन्तसुखी और शान्त हों – इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

---

[१] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २०

परिशिष्ट १

क्रमबद्धपर्याय :
एक इन्टरव्यू पू० कानजी स्वामी से

आज के बहुचर्चित विषय 'क्रमबद्धपर्याय' के संबंध में विक्रम की इक्कीसवीं शती में क्रमबद्ध की चर्चा आरंभ करने वाले पू० श्री कानजी स्वामी से उनकी ही जन्म-जयन्ती के अवसर पर दि० २८-४-७६ को बम्बई में सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय हजारों मुमुक्षु बन्धुओं के बीच संपादक आत्मधर्म (इस पुस्तक के लेखक) द्वारा लिया गया इन्टरव्यू यहाँ प्रस्तुत है।

'क्रमबद्धपर्याय' पर हुए स्वामीजी के प्रवचन यद्यपि 'ज्ञेयस्वभाव-ज्ञानस्वभाव' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं; तथापि उनके ताजे विचार समाज को प्राप्त हों – यही उद्देश्य रहा है इस इन्टरव्यू का।

"धर्म का मूल सर्वज्ञ है, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुए बिना सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हो सकता। धर्म का आरंभ ही क्रमबद्ध के निर्णय से होता है। इसका निर्णय करना बहुत जरूरी है।"

उक्त शब्द पू० कानजी स्वामी ने तब कहे जब उनसे कहा गया कि "आत्मधर्म के सम्पादकीय में 'क्रमबद्धपर्याय' के सम्बन्ध में हम एक लेखमाला चला रहे हैं, उसे बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया जावेगा। आपने इस युग में 'क्रमबद्धपर्याय' का एक प्रकार से उद्घाटन ही किया है। इसके सन्दर्भ में उठने वाली अनेक शंकाओं-आशंकाओं के सम्बन्ध में आपके ताजे विचार पाठकों तक पहुँचाना बहुत उपयोगी रहेगा। यदि आपकी अनुमति हो तो कुछ बातें आपसे पूछूँ ?"

वे अपनी बात आरंभ करते हुए बोले – "भाई ! तुम्हें जो पूछना हो पूछो, हम कब मना करते हैं ? समझने के लिए जिज्ञासा भाव से पूछने वाले आत्मार्थियों के लिये तो हमारा दरवाजा सदा ही खुला रहता है। वाद-विवाद करने वालों के लिये हमारे पास समय नहीं है। वाद-विवाद में कोई सार तो निकलता नहीं। चर्चा के लिए तो कोई मनाई नहीं है।

पंडित टोडरमलजी ने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में लिखा है कि – 'साधर्मी के तो परस्पर चर्चा ही चाहिए।'

क्रमबद्धपर्याय पर लिखकर तुम अच्छा ही कर रहे हो। कम से कम लोगों का ध्यान तो इस ओर जाएगा। जिसकी भली होनहार होगी, उनके ध्यान में बात जमेगी भी। 'धर्म का मूल सर्वज्ञ है', क्रमबद्ध का निर्णय हुए बिना सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हो सकता। धर्म का आरंभ ही क्रमबद्धपर्याय के निर्णय से होता है। इसका निर्णय करना बहुत जरूरी है।"

प्रश्न :– "आप तो पर्याय पर दृष्टि रखने वाले को पर्यायमूढ़ कहते हो ?"

उत्तर :– "हम क्या कहते हैं, प्रवचनसार (गाथा ९३) में लिखा है–

पज्जयमूढा हि परसमया'

प्रश्न :– "क्रमबद्धपर्याय भी तो एक पर्याय है, फिर उसका निर्णय करना क्यों आवश्यक है ?"

उत्तर :– "क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना तो आवश्यक है, पर वह दृष्टि का विषय नहीं है।

एक बात और भी ध्यान रखो कि पर्याय का निर्णय पर्याय के आश्रय से नहीं होता, किन्तु द्रव्य के आश्रय से होता है। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है। अतः यह कहा जाता है कि – आश्रय करने योग्य एकमात्र अपना ज्ञायकस्वभाव ही है, पर्याय आश्रय करने योग्य नहीं है।"

प्रश्न :– "तो फिर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करें या नहीं ?"

उत्तर :– "निर्णय तो करो, आश्रय मत करो। हम आश्रय करने का निषेध करते हैं, तो तुम निर्णय करने का निषेध करने लगते हो? हम तो यह कहते हैं कि ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्ध का निर्णय होगा। अतः क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने के लिए ज्ञायक-स्वभाव का आश्रय करो। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से क्रमबद्ध का निर्णय सहज हो जाएगा। क्रमबद्ध के निर्णय करने की जरूरत तो है ही, आश्रय करने की जरूरत नहीं।

क्रमबद्ध का निर्णय तो महापुरुषार्थ का कार्य है। उससे सारी दृष्टि ही पलट जाती है। यह कोई साधारण बात नहीं है। यह तो जैनदर्शन का मर्म है।"

प्रश्न :– "जब सब-कुछ क्रमबद्ध ही है तो फिर जब हमारी क्रमबद्धपर्याय में क्रमबद्ध का निर्णय होना होगा तब हो जाएगा। उसके पहिले क्रमबद्धपर्याय हमारी समझ में भी कैसे आ सकती है? मान लो हमारी समझ में क्रमबद्ध आने में अनन्त भव बाकी हैं – तो अभी कैसे आ सकती है?"

उत्तर :– "यह बात किसके आश्रय से कहते हो? क्या तुम्हें क्रमबद्ध का निर्णय हो गया है? नहीं, तो फिर यह कहने का तुम्हें क्या अधिकार है? जिसे क्रमबद्ध का निर्णय हो जाता है, उसे ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता है। क्रमबद्ध की श्रद्धा वाले के अनन्त भव ही नहीं होते। क्रमबद्ध की श्रद्धा तो भव का अभाव करने वाली है। जिसके अनन्त भव बाकी हों उसकी समझ में क्रमबद्ध आ ही नहीं सकती; क्योंकि उसकी दृष्टि ज्ञायक के सन्मुख नहीं होती और ज्ञायक के सन्मुख दृष्टि हुए बिना क्रमबद्धपर्याय समझ में नहीं आती है।

ज्ञायक के सन्मुख होकर जहाँ क्रमबद्ध का निर्णय किया वहाँ भव उड़ जाते हैं। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होने पर निर्मल-पर्याय मेरा कर्म और मैं उसका कर्त्ता – यह बात भी नहीं रहती। पर्याय स्वसमय पर होगी ही – ऐसी श्रद्धा होने से उसे करने की कोई व्याकुलता नहीं रहती। मुझे भव नहीं – इसप्रकार की निःशंकता प्रकट हो जाती है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में कर्त्तापन की बुद्धि उड़ जाती है और ज्ञातापन की बुद्धि प्रकट हो जाती है – यह उसका फल है। यदि कर्त्ताबुद्धि न उड़े तो समझना चाहिए कि अभी उसकी समझ में क्रमबद्धपर्याय आई नहीं है।"

प्रश्न :– "अभी आपने फरमाया कि क्रमबद्धपर्याय का निर्णय पर्याय पर दृष्टि रखने से नहीं होगा, त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखने से होगा तो फिर क्रमबद्धपर्याय के निर्णय की जरूरत ही क्या है ? बस हम तो ज्ञायकस्वभाव का आश्रय ले लें न ?"

उत्तर :– "ले सकते हो तो ले लो न, कौन मना करता है ? पर विकल्प में पर्याय की स्वतन्त्रता का निर्णय हुए बिना पर्याय पर से दृष्टि हटती कहाँ है ? और ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाये बिना क्रमबद्धपर्याय का भी सच्चा निर्णय नहीं होता है। तथा ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाने पर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो ही जाता है। अतः क्रमबद्धपर्याय के निर्णय नहीं करने की बात कहाँ रही ? ज्ञायक-स्वभाव पर दृष्टि जाने के पहिले आगम व युक्ति के आधार पर विकल्पात्मक निर्णय तो हो सकता है, सच्चा नहीं। पर विकल्पात्मक निर्णय भी तो जरूरी है, उसके बिना [illegible] की महिमा [illegible] नहीं, पर्याय से दृष्टि हटती ही नहीं।"

प्रश्न :– "क्रमनियमित' का अर्थ क्या है ?"

उत्तर :– "क्रमनियमित शब्द में क्रम अर्थात् क्रमसर (नम्बर-वार) तथा नियमित अर्थात् निश्चित। जिस समय जो पर्याय आने वाली है वही आएगी, उसमें फेरफार नहीं हो सकता।"

प्रश्न :– "समयसार में तो है, पर किसी और भी शास्त्र में है या नहीं ? समयसार तो आपका ही शास्त्र है।"

उत्तर :– "लो, यह अच्छी बात कही। समयसार हमारा कैसे है ? हम तो उसे पढ़ते हैं, है तो वह परमपूज्य दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्ददेव का।

प्रवचनसार में भी गाथा ९९, १००, १०१ व १०२ में है। विस्तार से सब बात कही है। 'जन्मक्षण' और 'स्वअवसर' की बात आती है। आकाश के प्रदेशों (विस्तारक्रम) का उदाहरण देकर कालक्रम (प्रवाहक्रम) समझाया है। जैसे – जो प्रदेश जहाँ-जहाँ है, वह वहीं-वहीं रहता है, उसमें आगे-पीछे होना सम्भव नहीं। उसी प्रकार जो-जो पर्यायें जिस-जिस काल में होनी हैं, वे-वे पर्यायें उसी-उसी काल में होंगी, उनका आगे-पीछे होना संभव नहीं।

प्रत्येक पर्याय स्वयंसत् है, अहेतुक है। समयसार के बंधाधिकार में पर्याय को अहेतुक कहा है।"

प्रश्न :– "पर्याय अहेतुक तो है, पर इसके बाद यही होगी – यह कैसे हो सकता है ?"

उत्तर :– "इसमें नहीं हो सकने की क्या बात है ? इसके बाद यही होगी; जो होने वाली है, वही होगी – ऐसा ही है। मोतियों के हार का दृष्टान्त देकर समझाया है न ? जैसे – माला में जो मोती जहाँ हैं, वहीं रहेंगे। यदि उन्हें आगे-पीछे करें तो माला टूट जाएगी; उसीप्रकार जो पर्याय जिस समय होनी होगी, उसी समय होगी, आगे-पीछे करने से वस्तुव्यवस्था ही न बनेगी। उसके आगे-पीछे होने का कारण क्या है ? वह अकारण तो आगे-पीछे हो नहीं जावेगी। यदि कोई कारण है तो फिर पर्याय अहेतुक नहीं रहेगी।"

प्रश्न :– "प्रवचनसार भी तो कुन्दकुन्द का ही है। क्या किन्हीं और आचार्यों के शास्त्रों में क्रमबद्ध की बात नहीं आती ?"

उत्तर :– "क्यों नहीं आती ? कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२१ से ३२३ तक में आती है। चारों ही अनुयोगों के शास्त्रों में किसी न किसी रूप में यह बात आती ही है।

फिर सर्वज्ञता की बात तो सभी शास्त्रों में है। यदि सीधी समझ में नहीं आती है तो सर्वज्ञता के आधार पर क्रमबद्धपर्याय समझनी चाहिये। 'केवलज्ञानी ने जैसा देखा होगा – वैसा ही होगा' का यही अर्थ तो होता है कि भविष्य में जिस समय जो पर्याय होनी है, वही होगी।"

प्रश्न :– "आप क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करने में सर्वज्ञता का सहारा क्यों लेते हैं ? सीधा ही समझाइये न ?"

उत्तर :– "अरे भाई ! हमने तो यह कहा है कि जब सीधा समझ में न आ सके तो सर्वज्ञता का सहारा लेना चाहिये, क्योंकि सर्वज्ञता के आधार पर समझने में सरलता रहती है।"

प्रश्न :– "सर्वज्ञता के आधार पर समझने में सरलता कैसे रहती है ?"

उत्तर – "सर्वज्ञ भगवान तीनलोक के समस्त द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को एकसाथ जानते हैं। भूतकाल और वर्त्तमान पर्यायों के साथ-साथ वे भविष्य में होने वाली पर्यायों को भी जानते हैं।"

प्रश्न :– "जानते हैं का क्या तात्पर्य है ?"

उत्तर :– "यही कि जिस द्रव्य की जो पर्याय भविष्य में जिस समय जैसी होनी है उसे सर्वज्ञ अभी जानते हैं। अतः जो भावी पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में जैसी आई हैं वे वैसी ही होंगी, उनमें कोई फेरफार संभव नहीं है।

केवलज्ञान (सर्वज्ञता) का निर्णय अर्थात् अर्हन्त का निर्णय। प्रवचनसार गाथा ८० में आता है कि जो अर्हन्त भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से, और पर्यायरूप से जानता है, उसका मोह नाश होता है।

हमें त्रेसठ वर्ष पहिले फाल्गुन सुदी १४ के दिन यही भाव अन्दर से आया था। शब्द ख्याल में नहीं थे, वाचन भी नहीं था, पर भाव यही ख्याल में आया था।"

प्रश्न :– "केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यतारूप जानते हैं अथवा उन पर्यायों को वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं?"

उत्तर :– "प्रत्येक पदार्थ की भूत और भविष्यकाल की पर्याय वर्त्तमान में अविद्यमान – अप्रकट होने पर भी सर्वज्ञभगवान उन्हें वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं। अनन्तकाल पहले हो चुकी भूतकाल की पर्यायें और अनन्तकाल पश्चात् होने वाली भविष्य की पर्यायें अविद्यमान होने पर भी केवलज्ञान वर्त्तमान की तरह प्रत्यक्ष जानता है।

आहा हा! जो पर्यायें हो चुकीं और होने वाली हैं; ऐसी भूत-भविष्य की पर्यायों को प्रत्यक्ष जाने उस ज्ञान की दिव्यता का क्या कहना? केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यता-रूप जानते हैं – ऐसा नहीं है, किन्तु उन सभी पर्यायों को वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं, यही सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता है। भूत-भविष्य की अविद्यमान पर्यायें केवलज्ञान में विद्यमान ही हैं। ओ हो! एकसमय की केवलज्ञान की पर्याय की ऐसी विस्मयता और आश्चर्यता है, तो पूरे द्रव्य की सामर्थ्य कितनी विस्मयपूर्ण और आश्चर्यजनक होगी? उसका क्या कहना?

आहा हा! पर्याय का गुलांट मारना यह कोई छोटी बात है? पर्याय तो अनादि से पर में ही जा रही है, उसको पलटकर अन्दर में ले जाना है। गहराई में ले जाना महान पुरुषार्थ का कार्य है। परिणाम में अपरिणामी भगवान के दर्शन हो जायें, यह पुरुषार्थ अपूर्व है।"

प्रश्न :– "केवली भगवान निश्चय से तो केवल अपने आपको जानते हैं, पर को तो वे व्यवहार से जानते हैं, ऐसा नियमसार में कहा है। और समयसार में व्यवहार को झूठा कहा है।

झूठा अर्थात् असत्यार्थ·······इसका अर्थ क्या?"

उत्तर :– "व्यवहार है ही नहीं – ऐसा उसका अर्थ नहीं है। व्यवहार जानने लायक है ऐसा १२वीं गाथा में कहा है। वह जाना हुआ

प्रश्न :– "प्रवचनसार भी तो कुन्दकुन्द का ही है। क्या किन्हीं और आचार्यों के शास्त्रों में क्रमबद्ध की बात नहीं आती ?"

उत्तर :– "क्यों नहीं आती ? कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३२१ से ३२३ तक में आती है। चारों ही अनुयोगों के शास्त्रों में किसी न किसी रूप में यह बात आती ही है।

फिर सर्वज्ञता की बात तो सभी शास्त्रों में है। यदि सीधी समझ में नहीं आती है तो सर्वज्ञता के आधार पर क्रमबद्धपर्याय समझनी चाहिये। 'केवलज्ञानी ने जैसा देखा होगा – वैसा ही होगा' का यही अर्थ तो होता है कि भविष्य में जिस समय जो पर्याय होनी है, वही होगी।"

प्रश्न :– "आप क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करने में सर्वज्ञता का सहारा क्यों लेते हैं ? सीधा ही समझाइये न ?"

उत्तर :– "अरे भाई ! हमने तो यह कहा है कि जब सीधा समझ में न आ सके तो सर्वज्ञता का सहारा लेना चाहिये, क्योंकि सर्वज्ञता के आधार पर समझने में सरलता रहती है।"

प्रश्न :– "सर्वज्ञता के आधार पर समझने में सरलता कैसे रहती है ?"

उत्तर – "सर्वज्ञ भगवान तीनलोक के समस्त द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को एकसाथ जानते हैं। भूतकाल और वर्त्तमान पर्यायों के साथ-साथ वे भविष्य में होने वाली पर्यायों को भी जानते हैं।"

प्रश्न :– "जानते हैं का क्या तात्पर्य है ?"

उत्तर :– "यही कि जिस द्रव्य की जो पर्याय भविष्य में जिस समय जैसी होनी है उसे सर्वज्ञ अभी जानते हैं। अतः जो भावी पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में जैसी आई हैं वे वैसी ही होंगी, उनमें कोई फेरफार संभव नहीं है।

केवलज्ञान (सर्वज्ञता) का निर्णय अर्थात् अर्हन्त का निर्णय। प्रवचनसार गाथा ८० में आता है कि जो अर्हन्त भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से, और पर्यायरूप से जानता है, उसका मोह नाश होता है।

हमें त्रेसठ वर्ष पहिले फाल्गुन सुदी १४ के दिन यही भाव अन्दर से आया था। शब्द ख्याल में नहीं थे, वाचन भी नहीं था, पर भाव यही ख्याल में आया था।"

प्रश्न :– "केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यतारूप जानते हैं अथवा उन पर्यायों को वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं?"

उत्तर :– "प्रत्येक पदार्थ की भूत और भविष्यकाल की पर्याय वर्त्तमान में अविद्यमान – अप्रकट होने पर भी सर्वज्ञभगवान उन्हें वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं। अनन्तकाल पहले हो चुकी भूतकाल की पर्यायें और अनन्तकाल पश्चात् होने वाली भविष्य की पर्यायें अविद्यमान होने पर भी केवलज्ञान वर्त्तमान की तरह प्रत्यक्ष जानता है।

आहा हा! जो पर्यायें हो चुकीं और होने वाली हैं; ऐसी भूत-भविष्य की पर्यायों को प्रत्यक्ष जाने उस ज्ञान की दिव्यता का क्या कहना? केवली भगवान भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में योग्यता-रूप जानते हैं – ऐसा नहीं है, किन्तु उन सभी पर्यायों को वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं, यही सर्वज्ञ के ज्ञान की दिव्यता है। भूत-भविष्य की अविद्यमान पर्यायें केवलज्ञान में विद्यमान ही हैं। ओ हो! एकसमय की केवलज्ञान की पर्याय की ऐसी विस्मयता और आश्चर्यता है, तो पूरे द्रव्य की सामर्थ्य कितनी विस्मयपूर्ण और आश्चर्यजनक होगी? उसका क्या कहना?

आहा हा! पर्याय का गुलांट मारना यह कोई छोटी बात है? पर्याय तो अनादि से पर में ही जा रही है, उसको पलटकर अन्दर में ले जाना है। गहराई में ले जाना महान पुरुषार्थ का कार्य है। परिणाम में अपरिणामी भगवान के दर्शन हो जायें, यह पुरुषार्थ अपूर्व है।"

प्रश्न :– "केवली भगवान निश्चय से तो केवल अपने आपको जानते हैं, पर को तो वे व्यवहार से जानते हैं, ऐसा नियमसार में कहा है। और समयसार में व्यवहार को झूठा कहा है।

झूठा अर्थात् असत्यार्थ·······इसका अर्थ क्या?"

उत्तर :– "व्यवहार है ही नहीं – ऐसा उसका अर्थ नहीं है। व्यवहार जानने लायक है ऐसा १२वीं गाथा में कहा है। वह जाना हुआ

प्रयोजनवान है। सर्वथा झूठा नहीं है, उसे गौण करके असत्यार्थ कहा है। प्रवचनसार की टीका में पांडे हेमराजजी ने कहा है कि व्यवहार को गौण करके असत्य कहा है, अभाव करके असत्य नहीं कहा है।"

प्रश्न :– "तो क्या केवली पर को जानते नहीं ?"

उत्तर :– "कौन कहता है ? जानते तो वे सभी पदार्थ हैं।"

प्रश्न :– "फिर उनके पर के जानने को व्यवहार क्यों कहा ?"

उत्तर :– "पर है – इसलिए तथा तन्मय होकर नहीं जानते – इसलिए भी।"

प्रश्न :– "क्रमबद्ध मानने से सब गड़बड़ हो जाता है ?"

उत्तर :– "गड़बड़ तो क्रमबद्ध नहीं मानने से होता है। क्रमबद्ध मानने से तो सब गड़बड़ उड़ जाती है। वस्तु में तो कहीं गड़बड़ है नहीं, वह तो पूर्ण व्यवस्थित है। अज्ञानी की मति ही गड़बड़ा रही है। सो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से मति व्यवस्थित हो जाती है।"

प्रश्न :– "जब हमारे करने से कुछ होता ही नहीं है तो फिर कोई कार्य क्यों करेगा ? जब कोई बनाएगा नहीं तो यह पंडाल कैसे बनेगा ? कारखाने कैसे चलेंगे ? सारी व्यवस्था ही गड़बड़ा जाएगी।"

उत्तर :– "कौन पंडाल बनाता है, कौन कारखाने चलाता है ? अज्ञानी पंडाल बनाने और कारखाने चलाने का अभिमान करते हैं – यह बात तो सही है, पर बनाता या चलाता कोई किसी को नहीं। जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्त अभाव है तब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में क्या कर सकता है ? अत्यन्त अभाव का अर्थ क्या ? यही कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता भी नहीं है। छुए तो अभाव नहीं रहे।"

प्रश्न :– "यदि आप ऐसा उपदेश देंगे तो लोग आलसी हो जाएंगे। जब उसके करने से कुछ होता ही नहीं तो कोई पुरुषार्थ क्यों करेगा ?"

उत्तर :– "क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ही सच्चा पुरुषार्थ है। क्योंकि क्रमबद्ध का निर्णय करने में ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाती है। जिसप्रकार ज्ञायक में भव नहीं; उसीप्रकार क्रमबद्ध के निर्णय

करने वाले को भी भव नहीं होते, एक-दो भव रहते हैं, वे भी ज्ञेय तरीके से रहते हैं।

अपनी मति में क्रमबद्ध की व्यवस्था को व्यवस्थित करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।"

प्रश्न :– "पर्याय तो व्यवस्थित ही होने वाली है अर्थात् पुरुषार्थ की पर्याय तो जब उसके प्रकट होने का काल आएगा तभी प्रकट होगी – ऐसी स्थिति में अब करने को क्या रह गया ?"

उत्तर :– "व्यवस्थित पर्याय है – ऐसा जाना कहाँ से ? व्यवस्थित पर्याय द्रव्य में है, तब तो द्रव्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है। पर्याय के क्रम के ऊपर दृष्टि न करके, क्रमसरपर्याय जिसमें से प्रकट होती है – ऐसे द्रव्यसामान्य के ऊपर ही दृष्टि करनी है, क्योंकि उस पर दृष्टि करने में अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। क्रमबद्ध के सिद्धान्त से अकर्त्तापना सिद्ध होता है, क्रम के समक्ष देखना नहीं।"

प्रश्न :– "क्रमबद्ध में करने के लिए क्या आया ?"

उत्तर :– "करना है कहाँ ? करने में तो कर्त्तृत्वबुद्धि आती है। करने की बुद्धि छूट जाए यह क्रमबद्ध है। क्रमबद्ध में कर्त्तृत्वबुद्धि छूट जाती है। पर में तो कुछ कर सकता ही नहीं, अपने में भी जो होने वाला है वही होता है अर्थात् अपने में भी जो राग होना है वह होता है, उसका क्या करना ? राग में भी कर्त्तृत्वबुद्धि छूट गयी, भेद और पर्याय से भी दृष्टि हट गयी, तब क्रमबद्ध की प्रतीति हुई। क्रमबद्ध की प्रतीति में तो ज्ञातादृष्टा हो गया; निर्मल पर्याय करूँ – ऐसी बुद्धि भी छूट गयी, राग को करूँ – यह बात तो दूर रह गयी। अरे ! ज्ञान करूँ यह बुद्धि भी छूट जाती है, कर्त्तृत्वबुद्धि भी छूट जाती है और अकेला ज्ञान रह जाता है। जिसे राग करना है, राग में अटकना है, उसे क्रमबद्ध की बात जमी ही नहीं। राग को करना और राग को छोड़ना – यह भी आत्मा में नहीं है। आत्मा तो अकेला ज्ञानस्वरूप है।

पर की पर्याय तो जो होने वाली है वह तो होती ही है उसे मैं करूँ ही क्या ? और मेरे में जो राग आता है उसे मैं क्या लाऊँ ? और मेरे में जो शुद्ध पर्याय आए उसको करूँ-लाऊँ – ऐसे विकल्प से भी क्या ? अपनी पर्याय में होने वाला राग और होने वाली शुद्ध

पर्याय उसको करने का विकल्प क्या ? राग और शुद्ध पर्याय के कर्त्तृत्व का विकल्प शुद्ध स्वभाव में है ही नहीं। अकर्त्तापना आजाना ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है।"

प्रश्न :– "क्रमबद्धपर्याय की बात कहकर आप सिद्ध क्या करना चाहते हैं ?"

उत्तर :– "क्रमबद्ध के सिद्धान्त से मूल तो अकर्त्तापना सिद्ध करना है। जैनदर्शन अकर्त्तावादी है। आत्मा परद्रव्य का तो कर्त्ता है ही नहीं, राग का भी कर्त्ता नहीं, और पर्याय का भी कर्त्ता नहीं। पर्याय अपने ही जन्मक्षण में अपने ही षट्कारक से स्वतंत्ररूपेण जो होने योग्य है वही होती है; परन्तु इस क्रमबद्ध का निर्णय पर्याय के लक्ष से नहीं होता। क्रमबद्ध का निर्णय करने जाए तो शुद्ध चैतन्य ज्ञायक-धातु के ऊपर दृष्टि जाती है और तभी जानने वाली जो पर्याय प्रकट होती है वह क्रमबद्धपर्याय को जानती है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय स्वभावसन्मुख वाले अनन्त पुरुषार्थपूर्वक होता है।

क्रमबद्ध के निर्णय का तात्पर्य वीतरागता है और यह वीतरागता पर्याय में तभी प्रकट होती है जब वीतराग स्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है। समयसार गाथा ३२० में कहा है कि ज्ञान बंध-मोक्ष का कर्त्ता नहीं है, किन्तु जानता ही है। आहा हा ! मोक्ष को ज्ञान जानता है – ऐसा कहा; मोक्ष को करता है – ऐसा नहीं कहा। अपने में होने वाली क्रमसरपर्याय का कर्त्ता है – ऐसा नहीं; किन्तु जानता है – ऐसा कहा; ग़ज़ब बात है।"

प्रश्न :– "जब कुछ करना ही नहीं है, तो फिर आप आत्मा का अनुभव करने का – ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख दृष्टि करने का उपदेश क्यों देते हैं ?"

उत्तर :– "हम कहाँ देते हैं उपदेश ? वाणी तो जड़ है, अतः जड़ के कारण निकलती है। परमपूज्य अमृतचन्द्राचार्यदेव आत्मख्याति के अन्त में लिखते हैं कि टीका हमने लिखी है – ऐसा जानकर मोह में मत नाचो। यह तो अक्षरों और शब्दों की परिणति है, हमारी नहीं। भाषा तो हमारी है ही नहीं, समझाने के विकल्प को भी ज्ञानी अपना नहीं मानता। हम तो पर को और विकल्प को भी मात्र जानते हैं और वह भी व्यवहार से, निश्चय से तो हम मात्र अपने को जानते हैं।"

प्रश्न :– "सभी गुणों का कार्य व्यवस्थित ही है तो फिर पुरुषार्थ करना भी रहता नहीं ?"

उत्तर :– "जिसको क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में पुरुषार्थ भासित नहीं होता, उसको व्यवस्थितपना बैठा ही कहाँ है ?"

प्रश्न :– "उसको व्यवस्थितपने का श्रद्धान नहीं हुआ तो उसका वैसा परिणमन भी तो व्यवस्थित ही है। वह व्यवस्थितपने का निर्णय नहीं कर सका यह बात भी तो व्यवस्थित ही है। ऐसी दशा में निर्णय करने की कथा करना व्यर्थ ही है ?"

उत्तर :– "उसका परिणमन व्यवस्थित ही है ऐसी उसे खबर कब है ? परिणमन व्यवस्थित है–ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, परन्तु उसे सर्वज्ञ का निर्णय ही कहाँ है ? प्रथम वह सर्वज्ञ का निर्णय तो करे ? पश्चात् उसे व्यवस्थित की खबर पड़े।"

प्रश्न :– "व्यवस्थित परिणमनशील वस्तु है, इसप्रकार भगवान के कथन की श्रद्धा उसे है ?"

उत्तर :–"नहीं, सर्वज्ञ भगवान का सच्चा निर्णय उसको कहाँ है ? पहले सर्वज्ञ का निश्चय हुए बिना व्यवस्थित का निर्णय कहाँ से आया ? मात्र ज्ञानी की बातें सुन-सुनकर वैसा-वैसा ही कहे तो इससे काम नहीं चलेगा, प्रथम सर्वज्ञ का निर्णय तो करो। द्रव्य का निर्णय किये बिना सर्वज्ञ का निर्णय वास्तव में हो सकता नहीं।"

प्रश्न :– "आप समझाते भी जाते हैं और कहते भी जाते हैं कि हम कहाँ समझाते हैं ?"

उत्तर :– "कौन समझाता है ? कहा न कि भाषा के कारण भाषा होती है, विकल्प के कारण विकल्प होता है और उस समय भाषा और विकल्प का ज्ञान भी अपने कारण होता है। इसमें हमारा कर्तापना कहाँ रहा ?"

प्रश्न :– "इसीलिए तो लोग कहते हैं कि आपकी करनी और कथनी में अन्तर है ?"

उत्तर :– [अत्यन्त गम्भीर होकर] "वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, हम क्या करें ? जैसा श्रद्धान, ज्ञान और कथन है वैसा चारित्र भी

होना चाहिए, वह अभी नहीं है; पर श्रद्धा में फेर नहीं है। करनी और कथनी का यह अन्तर तो है ही। पर यह अन्तर तो क्षायकसम्यग्दृष्टि भरतादि चक्रवर्तियों के भी था। चतुर्थगुणस्थानवर्ती सभी ज्ञानियों के होता है – इसमें हम क्या करें ?"

प्रश्न :– "यदि यह श्रद्धा और चारित्र का भेद मिट जावे तो बहुत अच्छा रहे ?"

उत्तर :– "मिट जाए तो क्या कहना ? हम भी तो निरन्तर यही भावना भाते हैं, पर तीर्थंकर ऋषभदेव के भी ८३ लाखपूर्व तक चारित्रदोष रहा था। एक गुण दूसरे गुण में दोष उत्पन्न नहीं करता – यह महासिद्धान्त है, अन्यथा सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। चारित्र और वीर्य में दोष है, परन्तु सम्यग्दर्शन में दोष नहीं है।"

अन्त में चर्चा में बैठे हुए हजारों लोगों को सम्बोधित करते हुए स्वामीजी बोले –

"आज अच्छी चर्चा रही, पण्डितजी ने अच्छे प्रश्न किये।"

"क्रमबद्ध तो बापू जैनदर्शन का मस्तक है, जैनदर्शन की आँख है, वस्तुस्वभाव की मर्यादा है। इसे समझना और निस्सन्देह होना बड़ी अलौकिक बात है।

आज भले ही इसे कम लोग समझते हों, पर सुनते हजारों लोग बड़े प्रेम से हैं। सुनें.........भाई सुनें.........सभी सुनें......पढ़ें ......और सबका कल्याण हो।"

– कहते हुए उन्होंने अपनी बात समाप्त की।



परिशिष्ट २

संदर्भ ग्रंथ-सूची

१. **अध्यात्म-रहस्य** (योगोद्दीपन-शास्त्र) : पण्डित आशाधरजी; व्याख्याकार-पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार; वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली; वीर सं० २४८४

२. **अध्यात्म-पद-संग्रह** : सम्पादक – पण्डित महेन्द्रकुमारजी अजमेरा 'प्रभाकर', आयुर्वेदाचार्य, पचेवर; पं० नाथूरामजी अजमेरा, मदनगंज-किशनगढ़ (राजस्थान)

३. **अष्टशती** : आचार्य अकलंकदेव

४. **अष्टसहस्री** : आचार्य विद्यानन्दि

५. **अष्टपाहुड़** : श्रीमद् आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार – श्री पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात); वीर सं० २५०२

६. **अनेकान्त और स्याद्वाद** : डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर, अगस्त, १९७३ ई०

७. **आप्तमीमांसा** (देवागम स्तोत्र) : श्रीमद् स्वामी समन्तभद्राचार्य; वीर-सेवामन्दिर ट्रस्ट, २१ दरियागंज, दिल्ली; वीर सं० २४९४

८. **आत्मानुशासन** : आचार्य गुणभद्र; डॉ० हीरालालजी जैन, प्रो० आ० ने० उपाध्ये; पण्डित बालचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर; वि० सं० २०१८

९. **आदिपुराण** : आचार्य जिनसेन; सम्पादक – पण्डित पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी; वीर सं० २४९१

१०. **आत्मधर्म** (मासिक पत्रिका) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट,

१३. **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** (संक्षिप्त हिन्दी टीका सहित) : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; टीकाकार – पण्डित मनोहरलालजी शास्त्री; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास; ई० सन् १९७१

१४. **जयपुर** (खानियाँ) **तत्त्वचर्चा, दोनों भाग** : सम्पादक – सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्दजी; आचार्यकल्प पंडित श्री टोडरमल ग्रंथमाला, बापूनगर, जयपुर; फरवरी, १९६७

१५. **जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २** : क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी; वि० सं० २०२८

१६. **जैनतत्त्वमीमांसा** : (द्वितीय संस्करण) : पंडित फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री; अशोक प्रकाशन मन्दिर, २/२४९, निर्वाण भवन, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी, वीर सं० २५०४

१७. **तत्त्वार्थसूत्र** (मोक्षशास्त्र) : आचार्य उमास्वामी; सम्पादक – श्री पंडित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री; भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा; वीर सं० २४७७

१८. **तत्त्वार्थवार्तिक** (राजवार्तिक) : आचार्य अकलंकदेव; सम्पादक – प्रो० महेन्द्रकुमारजी जैन, न्यायाचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी, वीर सं० २४७९

१९. **तिलोयपण्णत्ति** : यतिवृषभाचार्य; जीवराज ग्रंथमाला, शोलापुर, वि० सं० १९९९

२०. **धवला** (षट्खण्डागम) : आचार्य वीरसेन; जैन साहित्योद्धार फण्ड, अमरावती

२१. **नियमसार** (तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका सहित) : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री पद्मप्रभमलधारिदेव; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२२. **परमात्मप्रकाश और योगसार** : मुनिराज योगिन्दुदेव; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास; वि० सं० २०१७

२३. **पद्मनन्दिपंचविंशतिका** : मुनिराज पद्मनन्दि; सम्पादक – श्री पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री; श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, वीर सं० २५०३

२४. **पद्मपुराण** : आचार्य रविषेण; सम्पादक – पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, वि० सं० २०१६

२५. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** (भाषा टीका सहित) : आचार्य अमृतचन्द्र; टीकाकार-आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी तथा पंडित दौलतरामजी कासलीवाल; मन्त्री मोतीलाल शाह, किशनपोल बाजार, जयपुर

२६. **प्रवचनसार** (तत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका सहित) : आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, ६०२, कृष्णनगर, भावनगर (गुजरात); वि० सं० २०३२

२७. **प्रवचनसार** (तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका) : आचार्य कुन्दकुन्द; आचार्य जयसेन; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, ६०२, कृष्णनगर, भावनगर (गुजरात); वि० सं० २०३२

२८. **परीक्षामुख** : आचार्य माणिक्यनन्दि; हरप्रसाद जैन, वैद्यभूषण, मु० कुड़री, पो० मड़ावरा, झांसी (उ० प्र०); वीर सं० २४६५

२९. **प्रमेयरत्नमाला** : आचार्य अनन्तवीर्य; मुनि अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, कालबादेवी रोड, बम्बई

३०. **बुधजन विलास** : कवि बुधजन; जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, १६१/१ हरीसन रोड, कलकत्ता; वीर सं० २४७७

३१. **भगवती आराधना** : आचार्य श्री शिवार्य; सम्पादक-पं० श्री कैलाशचन्द्रजी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर; वीर सं० २५०४

३२. **महापुराण** : आचार्य जिनसेन और आचार्य गुणभद्र; सम्पादक-पंडित पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी; ई० सं० १९५१

३३. **मोक्षमार्ग प्रकाशक** : आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी; सम्पादक – डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र); वि० सं० २०३५

३४. **मोक्षमार्ग प्रकाशक** : आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी; सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली; वि० सं० २०१०

३५. **योगसार प्राभृत** : श्रीमद् आचार्य अमितगति; सम्पादक – श्री जुगल-

३७. **रहस्यपूर्ण चिट्ठी** (मोक्षमार्ग प्रकाशक के साथ प्रकाशित) : आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र); वि० सं० २०३५

३८. **वर्त्तमान चतुर्विंशतिजिनपूजा** (चन्द्रप्रभ जिनपूजा) : कविवर वृन्दावनदासजी; वीर पुस्तक भण्डार, मनिहारों का रास्ता, जयपुर; वि० सं० २०३२

३९. **शान्तिपथ दर्शन** : क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णी; शान्ति निकेतन, उदासीन आश्रम, ईसरी बाजार, गिरडीह, १९७६ ई०

४०. **समयसार** (आत्मख्याति संस्कृत टीका सहित) : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार–आचार्य अमृतचन्द्र; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र); वीर सं० २५०१

४१. **समयसार** (तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका सहित) : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार – आचार्य जयसेन; श्री दिगम्बर जैन समाज, अजमेर

४२. **समयसार कलश** (भाषा टीका सहित) : आचार्य अमृतचन्द्र; टीकाकार-श्री पाण्डे राजमलजी; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात); वीर सं० २५०३

४३. **सम्मईसुत्तम्** (सन्मति सूत्र) : आचार्य सिद्धसेन; सम्पादक – डॉक्टर देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री; ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन, नीमच (मध्य-प्रदेश); १९७८ ई०

४४. **सर्वार्थसिद्धि** : आचार्य पूज्यपाद; सम्पादक – पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी; १९७१ ई०

४५. **स्वयंभूस्तोत्र** : आचार्य समन्तभद्र; वीरसेवामन्दिर, सरसावा

४६. **हरिवंश पुराण** : आचार्य जिनसेन; सम्पादक पंडित पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी; १९६२ ई०

४७. **ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव** (प्रवचन संकलन) : प्रवचन – श्री कानजी स्वामी; संकलनकर्त्ता – ब्र० हरिलाल; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र); वीर सं० २५०३

अभिमत

आचार्यों, मुनिराजों, व्रतियों, विद्वानों व लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन –

• आचार्य श्री जयसागरजी महाराज

क्रमबद्धपर्याय तो चारों अनुयोगों में है। धवला, महाधवला, जयधवला आदि ग्रंथों में भी क्रमबद्ध तथा सर्वज्ञता की पोषक बातें हैं। एक सच्चा जैन होने के लिये क्रमबद्धपर्याय तथा सर्वज्ञता का मानना बहुत जरूरी है। क्रमबद्धपर्याय का निबन्ध लिखकर डॉ० भारिल्लजी ने बहुत मर्म खोला है। वे धर्मप्रचार का कार्य इसीप्रकार करते रहें। उनको हमारा मंगल आशीर्वाद है।

• मुनि श्री विजयसागरजी महाराज

'क्रमबद्धपर्याय' पुस्तक में डॉ० भारिल्ल ने सहज सरल [illegible] निश्चित व्यवस्थित क्रम के अनुसार ही होता है, यही [illegible] से समझाने का प्रयास किया है। सर्वज्ञता का [illegible] क्रमबद्धपर्याय [illegible] उदाहरण और ठोस प्रमाणों से [illegible] किया है, [illegible] [illegible] नहीं रहेगी।

[illegible] में भी डॉ० भारिल्ल [illegible] हमारा [illegible] आशीर्वाद है।

• मुनि श्री [illegible]सागरजी महाराज

[illegible] है

★ वयोवृद्ध विद्वान् ब्र० पं० मुन्नालालजी रांघेलीय (वर्णी), न्यायतीर्थ, सागर

यह पुस्तक बहुत ही खोजपूर्ण और सुन्दर ढंग से बेजोड़ लिखी गई है। इसमें डॉ० भारिल्लजी ने जैनसिद्धान्त के सार को अपनी वरद् लेखनी द्वारा विस्तार से लिखा है। पुस्तक का मुख्य प्रयोजन संसार के कारणभूत कर्त्तृत्व आदि के मिथ्या अहंकार को मिटाना है।

पुस्तक में अनेकान्त शैली से वस्तुस्वभाव बताया है। स्याद्वाद और अनेकान्त जैन तत्त्वों का मापदण्ड है, उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय सभी गर्भित हैं तथा उसमें लागू होने वाले नियम कभी बदलते नही हैं। जो जीव अज्ञानता-वश बदलने का अहंकार करता है वह दीर्घसंसारी है, इसमें भय और दबाव का काम नहीं है – यह तो वस्तुस्वभाव का चित्रण है।

क्रमबद्धपर्याय मानने पर अकाल मृत्यु के कहने से कोई बाधा नहीं आती। वस्तुतः तो अकाल मृत्यु कभी होती ही नहीं, पर्याय स्वयं अपने समय में बदलती है, असमय में नहीं। अतएव भ्रम छोड़ देना चाहिए।

हमारी शुभकामना है कि भारिल्लजी से शतायुष्क तक समाज लाभ उठाये। इस पुस्तक के अतिरिक्त धर्म के दशलक्षण, तीर्थंकर भगवान महावीर, अपने को पहचानिए आदि कृतियाँ भी अपूर्व संग्रहणीय एवं मननीय हैं।

★ ब्र० यशपालजी जैन, एम० ए०, बाहुबली (महाराष्ट्र)

वैसे 'क्रमबद्धपर्याय' के सम्बन्ध में अनेक वर्षों से सुनता था, परन्तु अनेक शंकाएँ (मुख्यतः पुरुषार्थहीनता आ जाती है, इत्यादि) मन में आकुलता उत्पन्न करती थीं। परन्तु जब से डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की 'क्रमबद्धपर्याय' (एक अनुशीलन तथा प्रश्नोत्तर) आत्मधर्म में तथा पुस्तक रूप में समग्र पढ़ने को मिली तो सब शंकाएँ स्वयं गायब हो गईं। 'क्रमबद्धपर्याय' एक संतोषप्रदायिनी अनुपम घूंटी है, ऐसी मेरी श्रद्धा बन गई है।

आगमोक्त तर्कों से तथा युक्तियों से कठिन विषय अत्यन्त रोचक रीति से पाठकों के सामने रखा है। 'क्रमबद्धपर्याय' विषय पर डॉ० भारिल्लजी के प्रवचन सुनना भी विषय-निर्णय के लिये लाभदायक सिद्ध होता है – ऐसा मेरा तथा अनेक तत्त्वरसिकों का सफल अनुभव है। जिज्ञासु इसका भी लाभ उठावें।

पूज्य श्री कानजी स्वामी के उत्तर (इन्टरव्यू) में तो इस पुस्तक का सर्वोपरि स्वानुभवगर्भित अमृत है। प्रत्येक आगम-श्रद्धालु व्यक्ति तथा आगमाभ्यासी को इस पुस्तक का दिल खोलकर स्वागत करना चाहिए।

*** वयोवृद्ध व्रतीविद्वान ब्र० पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी**

क्रमबद्धपर्याय का कथन आचार्य अमृतचंद्र की आत्मख्याति टीका (समयसार) में आया है। उन्होंने 'क्रमनियमित' शब्द का प्रयोग किया है। दोनों शब्द का अर्थ समान ही है। जो क्रमनियमित हो वह क्रमबद्ध है, और जो क्रमबद्ध हो वह क्रमनियमित है। अर्थभेद नहीं है। बल्कि क्रमबद्ध में पर्याय के क्रम की ही सूचना है और क्रमनियमित में वह पर्याय केवल क्रमबद्ध ही नहीं, किन्तु जिन-जिन कारणों के संदर्भ में वह पर्याय है, वे सब कारण तथा उनका यथासमय संयोग भी नियमित है, यह स्पष्ट होता है। **इसका विरोध आचार्य अमृतचंद्र का ही विरोध है।**

डॉ० भारिल्ल कलम के धनी हैं, अतः उनके द्वारा लिखी गई उक्त पुस्तक यथार्थ तत्व के निरूपण करने में सफल है, यह कहा जा सकता है।

क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध में अनेक विद्वान् विवाद करते हैं, वे इसे स्वीकार नहीं करते। यह सब विरोध केवल इस आधार पर है कि डॉ० भारिल्ल सोनगढ़ पक्ष के हैं और सोनगढ़ पक्ष की ओर उक्त विद्वानों की वक्रदृष्टि है, अन्यथा वे भी विरोध न करते।

*** सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचंद्रजी, वाराणसी**

क्रमबद्धपर्याय भी अब जानकार जैनों से अज्ञात नहीं है। आज से लगभग दो दशक पूर्व हमने इस पर 'संदेश' में बहुत लिखा था और जैनगजट में उसके सम्पादक पं० अजितकुमारजी शास्त्री ने इसका विरोध किया था। खानियाँचर्चा में यह विषय चर्चित हुआ था। इसको माने बिना सर्वज्ञता बनती नहीं और सर्वज्ञता को माने बिना जैनधर्म की स्थिति नहीं है। **जो इसका विरोध करते हैं वे जैनधर्म के मूल पर कुठाराघात करते हैं।**

जब केवलज्ञान सब द्रव्यों की सब पर्यायों को जानता है अर्थात् भूत और वर्तमान पर्यायों की तरह भावी पर्यायों को जानता है – ऐसी कोई पर्याय नहीं है जो उसका विषय न हो – तो ही सर्वज्ञता बनती है। जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस काल में होगी वह सर्वज्ञ जानता है। इस तरह जब प्रत्येक पर्याय का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उसे ज्ञात है; तब पर्याय का क्रम भी सुनिश्चित होना ही चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार के प्रथम अधिकार में इसे सुस्पष्ट किया है। हाँ, क्रमबद्ध शब्द का प्रयोग नहीं किया। आचार्य अमृतचन्द्र ने

समयसार के सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के प्रारम्भ में क्रमनियमित या क्रमनियत पद का प्रयोग किया है जिसका अर्थ 'क्रमबद्ध' ही होता है।

जिसे आगम में अकालमरण कहा है वह भी अक्रमनियत नहीं है। किस जीव ने कितनी आयु का बन्ध किया है और वह आयु पूरी करके मरेगा या अकाल में ही अर्थात् आयु का समय पूरा होने से पूर्व ही उदीरणा प्रत्यय के द्वारा मरेगा यह भी सर्वज्ञ से अज्ञात नहीं है। अकाल का आशय है, जितनी आयु बांधी उसे पूर्ण न भोगकर मरण। श्रुतज्ञान में वह अकालमरण कहा जाता है, किन्तु सर्वज्ञ के ज्ञान में वह भी प्रतिभासित है।

इस पुस्तक में विद्वान लेखक ने इस पर विचार किया है और प्रश्नोत्तर द्वारा अच्छा प्रभाव डाला है। छपाई, कागज, गेट-अप सभी सुन्दर और आकर्षक हैं। — जैन संदेश (साप्ताहिक), मथुरा, २१ फरवरी १९८०

★ विद्वद्वर्य पं० खीमचन्द जेठालाल शेठ, सोनगढ़

डॉ० हुकमचन्दजी शास्त्री ने आत्मज्ञसन्त पूज्य श्री कानजी स्वामी के श्री समयसार गाथा ३०८–९–१०–११ पर हुए अध्यात्मरस-पूर्ण अत्यन्तसूक्ष्म भाववाही प्रवचनों तथा अन्य अनेक शास्त्रों के आधार से इस 'क्रमबद्धपर्याय' नामक शास्त्र की अद्वितीय रचना की है। जो जीव इसका वाँचन-मनन करके अन्तर्मुख परिणमन करेंगे उनकी अनन्त पदार्थों की कर्तृत्व-बुद्धि तथा अपनी पर्यायों में फेरफार करने की बुद्धि अवश्य छूट जाएगी। **क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से अनन्त आकुलता का अभाव होकर अनन्त वीतरागता प्रगट होती है और वही इस शास्त्र का तात्पर्य है।** ऐसे वीतरागतापोषक शास्त्र की रचना करने के लिए पंडितजी अभिनन्दन के पात्र हैं। सभी जीव इस शास्त्र का यथार्थ भाव समझकर विशुद्धता को प्राप्त करें, यही आन्तरिक भावना है।

★ सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवक्ता पं० श्री लालचंद भाई मोदी, राजकोट

आत्मज्ञानी के हृदय को अनेक युक्तियों से खोलनेवाली एवं आगम पर आधारित डॉ० हुकमचंद भारिल्ल की यह कृति 'क्रमबद्धपर्याय' प्रशंसनीय है।

★ बाबू श्री जुगलकिशोरजी 'युगल', एम० ए०, साहित्यरत्न, कोटा (राजस्थान)

डॉ० भारिल्लजी की 'क्रमबद्धपर्याय' निश्चित ही न केवल सामान्य वरन् विशिष्ट बौद्धिक जन-मानस में उत्पन्न असंख्य भ्रम एवं शंकाओं को निराकृत कर सर्वज्ञ की गौरव-गरिमा की स्थापना करने वाली पहली पुस्तक है।

* पं० नरेन्द्रकुमारजी शास्त्री, न्यायतीर्थ, सोलापुर (महाराष्ट्र)

मनुष्यमात्र के सर्वांग सुन्दर विद्वान लेखक महोदय ने 'क्रमबद्धपर्याय' — इस ग्रन्थ द्वारा यथार्थ मनुष्यमात्र का मार्गदर्शन कर शांति-सुख के मार्ग का ही मार्गदर्शन किया है।

* पं० नाथूलालजी, न्याय-सिद्धान्तशास्त्री, राजाखेड़ा (राजस्थान)

डॉ० भारिल्ल के प्रतिभा-सम्पन्न ज्ञान की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। डॉ० भारिल्ल ने इस छोटी-सी अवस्था में अनेक धार्मिक, आगमिक विषयों के मनन और चिन्तन के साथ इन विषयों को जैन-जगत के समक्ष लिपिबद्ध करके प्रस्तुत किया है — यह उनके विशिष्ट क्षयोपशम और पुण्योदय-प्राप्त पुण्य की बात है। मेरा शुभभाव के साथ शुभाशीर्वाद है कि उनका भविष्य इससे भी अधिक प्रगतिशील बने।

* पं० भंवरलालजी पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य, साहित्यशास्त्री, मारोठ (राज०)

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा रचित 'क्रमबद्धपर्याय' नामक पुस्तक का मैंने आद्योपान्त मनस्तः पारायण किया है और मुझे यह लिखने में जरा भी संकोच नहीं है कि ऐसे गूढ़ दार्शनिक विषय को जिस रोचक एवं सर्वांगपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है वह डॉ० भारिल्ल की लेखनी से ही प्रसूत हो सकती थी।

'क्रमबद्धपर्याय' श्रद्धा का विषय है और यह सच है कि इसे बिना जाने-माने जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह पुस्तक स्वाध्याय-प्रेमियों के लिए उपयोगी है। प्रकाशन सर्वांग सुन्दर है। लेखक, प्रकाशक एवं सम्पादक सभी इसके लिए बधाई के पात्र हैं। ट्रस्ट द्वारा जो जिनवाणी के प्रचार-प्रसार का कार्य हो रहा है वह दीर्घकाल तक चलता रहे यही कामना है।

★ **श्री अमृतलालजी जैन, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)**

आपकी लेखनी से प्रसूत 'क्रमबद्धपर्याय' पुस्तक को मैंने आद्योपान्त रुचिपूर्वक पढ़ा और प्रसन्नता का अनुभव किया। प्रस्तुत विषय पर विशद प्रकाश डालने वाली यह एक अनूठी कृति है। आर्ष-ग्रन्थों एवं प्रबल युक्तियों के आधार पर आपने प्रस्तुत विषय पर गहराई से विचार किया है। ऐसी सुन्दर रचना के लिए आप एवं प्रकाशक दोनों ही हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

★ **श्री नरेन्द्रप्रकाशजी जैन, प्राचार्य, जैन इन्टर कॉलेज, फिरोजाबाद (उ०प्र०)**

'क्रमनियमितपर्याय' जैनदर्शन का एक बहुचर्चित सिद्धान्त है। मुख्यतः आज के युग में इसके पक्ष और विपक्ष में खूब चर्चा होती रही है। इस विषय पर विद्वज्जनों के मतभेद किसी से छिपे नहीं हैं। मुझे खुशी है कि इस सन्दर्भ में इतने विस्तार से सभी पहलुओं का स्पर्श करते हुए तथा सामान्य पाठक की समझ में आ सकने योग्य सीधी-सरल भाषा में पहली बार ही लिखा गया है। यों तो दार्शनिक गुत्थियाँ प्रायः गूढ़ एवं शुष्क हुआ करती हैं, किन्तु डॉ० भारिल्लजी उन्हें रुचिकर एवं सरस बनाकर प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त हैं। मैं उनके इस कमाल का सादर अभिवादन करता हूँ।

जो लोग इस सिद्धान्त से अब भी मतभेद रखते हैं, इस ग्रंथ के प्रकाशन से उन्हें भी एक अवसर मिला है कि वे अथाह आगम-सिन्धु में पुनः-पुनः गोते लगाएँ और नये-नये मोती ढूंढकर लायें।

मुझे पूर्ण आशा है कि तत्त्व-चिन्तन और चर्चा के इस स्वस्थ एवं सन्तुलित प्रयास को संपूर्ण जैनजगत में निश्चय ही सराहा जायेगा। अपनी ओर से विद्वान लेखक को हार्दिक साधुवाद प्रेषित करता हूँ।

★ **पं० उदयचन्द्रजी जैन, प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी**

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'क्रमबद्धपर्याय' का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि यह पुस्तक जैनदर्शन के गूढ़ सिद्धान्त – पर्यायों की क्रमबद्धता को – आगमिक तथा तार्किक आधारों पर सप्रमाण सिद्ध करती है। पर्यायों की क्रमबद्धता में जो अनेक आशंकाएँ उत्पन्न होती हैं, उनका समाधान भी प्रश्नोत्तर के रूप में उत्तम रीति से किया गया है।

पर्यायों की क्रमबद्धता में सबसे बड़ा दोष पुरुषार्थ की निष्क्रियता का आता है, किन्तु जब सब-कुछ क्रमबद्ध है तब पुरुषार्थ भी तो उसी के गर्भ में

सम्मिलित है। महावीर ने भगवान बनने के लिए पहले पूर्वभवों में जो पुरुषार्थ किया, उसे पर्यायों की क्रमबद्धता के नियमानुसार करना ही था। ऐसा नहीं है कि यदि वे चाहते तो पुरुषार्थ न करते। पुरुषार्थ करना या न करना उनके आधीन नहीं था। अतः जो वस्तु या पर्याय क्रमनियत है उसे कोई बदल नहीं सकता।

पर्यायों की क्रमबद्धता की सिद्धि में सर्वज्ञता एक प्रमुख आधार है और जैनदर्शन का भवन सर्वज्ञता की नींव पर ही आधारित है। जो व्यक्ति जैनदर्शन-प्रतिपादित 'सर्वज्ञ' को मानता है, उसे क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त को मानना आवश्यक है। जिनका विश्वास सर्वज्ञ में न हो वे भले ही पर्यायों की क्रमबद्धता के सिद्धान्त से मुक्ति पा सकते हैं।

क्रमबद्धपर्याय एक गंभीर विषय है और श्री कानजी स्वामी द्वारा यह विषय विशेष रूप से प्रकाश में लाया गया है। अतः इस गम्भीर विषय को समझने के लिए डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की महत्त्वपूर्ण कृति 'क्रमबद्धपर्याय' का अध्ययन, मनन तथा चिन्तन आवश्यक है। इस उपयोगी रचना के लिए लेखक तथा प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

• पं० भरतचक्रवर्तीजी जैन, शास्त्री, न्यायतीर्थ, मद्रास

इसमें सन्देह नहीं कि 'क्रमबद्धपर्याय' एक अनुपम कृति है। आपने यह सिद्ध कर दिया है कि बिना सर्वज्ञता के माने 'क्रमबद्धपर्याय' का वास्तविक ज्ञान संभव नहीं है, क्योंकि हम छद्मस्थों के ज्ञान में 'क्रमबद्धपर्याय' झलकती नहीं है। इसकी पुष्टि में उद्धृत पूज्यश्री कुन्दकुन्द, पूज्यपाद आदि महान आचार्यों की पंक्तियाँ निस्संदेह स्तुति के करने योग्य हैं। साथ ही एकान्त नियतवाद, पुरुषार्थहीनता, अकर्तृत्ववाद आदि हेतुहीन बातों का निराकरण करते हुए आपने आगम, युक्ति एवं लौकिक उदाहरण के साथ यह दर्शाया है कि पुरुषार्थ, स्वतंत्रता आदि किस प्रकार क्रमबद्धपर्याय के साथ जुड़े हुए हैं। वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में आपका स्पष्टीकरण अत्यन्त प्रशंसनीय है। जटिल विषयों को सरल भाषा में स्पष्ट करने की कला आप में छिपी है।

★ **श्री अमृतलालजी जैन, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)**

आपकी लेखनी से प्रसूत 'क्रमबद्धपर्याय' पुस्तक को मैंने आद्योपान्त रुचिपूर्वक पढ़ा और प्रसन्नता का अनुभव किया। प्रस्तुत विषय पर विशद प्रकाश डालने वाली यह एक अनूठी कृति है। आर्ष-ग्रन्थों एवं प्रबल युक्तियों के आधार पर आपने प्रस्तुत विषय पर गहराई से विचार किया है। ऐसी सुन्दर रचना के लिए आप एवं प्रकाशक दोनों ही हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

★ **श्री नरेन्द्रप्रकाशजी जैन, प्राचार्य, जैन इन्टर कॉलेज, फिरोजाबाद (उ०प्र०)**

'क्रमनियमितपर्याय' जैनदर्शन का एक बहुचर्चित सिद्धान्त है। मुख्यतः आज के युग में इसके पक्ष और विपक्ष में खूब चर्चा होती रही है। इस विषय पर विद्वज्जनों के मतभेद किसी से छिपे नहीं हैं। मुझे खुशी है कि इस सन्दर्भ में इतने विस्तार से सभी पहलुओं का स्पर्श करते हुए तथा सामान्य पाठक की समझ में आ सकने योग्य सीधी-सरल भाषा में पहली बार ही लिखा गया है। यों तो दार्शनिक गुत्थियाँ प्रायः गूढ़ एवं शुष्क हुआ करती हैं, किन्तु डॉ० भारिल्लजी उन्हें रुचिकर एवं सरस बनाकर प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त हैं। मैं उनके इस कमाल का सादर अभिवादन करता हूँ।

जो लोग इस सिद्धान्त से अब भी मतभेद रखते हैं, इस ग्रंथ के प्रकाशन से उन्हें भी एक अवसर मिला है कि वे अथाह आगम-सिन्धु में पुनः-पुनः गोते लगाएँ और नये-नये मोती ढूंढकर लायें।

मुझे पूर्ण आशा है कि तत्त्व-चिन्तन और चर्चा के इस स्वस्थ एवं सन्तुलित प्रयास को संपूर्ण जैनजगत में निश्चय ही सराहा जायेगा। अपनी ओर से विद्वान लेखक को हार्दिक साधुवाद प्रेपित करता हूँ।

★ **पं० उदयचन्द्रजी जैन, प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी**

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'क्रमबद्धपर्याय' का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि यह पुस्तक जैनदर्शन के गूढ़ सिद्धान्त – पर्यायों की क्रमबद्धता को – आगमिक तथा तार्किक आधारों पर सप्रमाण सिद्ध करती है। पर्यायों की क्रमबद्धता में जो अनेक आशंकाएँ उत्पन्न होती हैं, उनका समाधान भी प्रश्नोत्तर के रूप में उतम रीति से किया गया है।

पर्यायों की क्रमबद्धता में सबसे बड़ा दोष पुरुपार्थ की निष्क्रियता का आता है, किन्तु जब सब-कुछ क्रमबद्ध है तब पुरुपार्थ भी तो उसी के गर्भ में

प्रकाशित है। महावीर ने भगवान बनने के लिए अपने पूर्वभवों में जो पुरुषार्थ किया, उसे पर्यायों की क्रमबद्धता के नियमानुसार करना ही था। ऐसा नहीं है कि यदि वे चाहते तो पुरुषार्थ न करते। पुरुषार्थ करना या न करना उनके आधीन नहीं था। अतः जो वस्तु या पर्याय क्रमनियत है, उसे कोई बदल नहीं सकता।

पर्यायों की क्रमबद्धता की सिद्धि में सर्वज्ञता एक प्रमुख आधार है और जैनदर्शन का भवन सर्वज्ञता की नींव पर ही आधारित है। जो व्यक्ति जैनदर्शन-प्रतिपादित 'सर्वज्ञ' को मानता है, उसे क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त को मानना आवश्यक है। जिनका विश्वास सर्वज्ञ में न हो वे भले ही पर्यायों की क्रमबद्धता के सिद्धान्त से मुक्ति पा सकते हैं।

क्रमबद्धपर्याय एक गंभीर विषय है और श्री कानजी स्वामी द्वारा यह विषय विशेष रूप से प्रकाश में लाया गया है। अतः इस गम्भीर विषय को समझने के लिए डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की महत्त्वपूर्ण कृति 'क्रमबद्धपर्याय' का अध्ययन, मनन तथा चिन्तन आवश्यक है। इस उपयोगी रचना के लिए लेखक तथा प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

• पं० भरतचक्रवर्तीजी जैन, शास्त्री, न्यायतीर्थ, मद्रास

इसमें सन्देह नहीं कि 'क्रमबद्धपर्याय' एक अनुपम कृति है। आपने यह सिद्ध कर दिया है कि बिना सर्वज्ञता के माने 'क्रमबद्धपर्याय' का वास्तविक ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि हम छद्मस्थों के ज्ञान में 'क्रमबद्धपर्याय' आ सकती नहीं है। इसकी पुष्टि में उद्धृत पूज्यश्री कुन्दकुन्द, पूज्यपाद आदि महान आचार्यों की पंक्तियाँ निरन्तर स्मृति में रखने योग्य हैं। साथ ही एकान्त नियतिवाद, पुरुषार्थहीनता, स्वच्छन्दता आदि हेतुहीन शंकाओं का निराकरण करते हुए आगम, युक्ति एवं लौकिक उदाहरण के साथ यह बताया है कि पुरुषार्थ, स्वच्छन्दता आदि किस प्रकार क्रमबद्धपर्याय के साथ चलते रहे हैं। **वस्तुतः इस सम्बन्ध में आपका स्पष्टीकरण अत्यन्त प्रशंसनीय है।** उलझे विषयों को सरल भाषा में स्पष्ट करने की कला आप में झलकती है।

★ पं० वंशीधरजी शास्त्री, एम० ए०, जयपुर (राजस्थान)

इस शताब्दी में श्री कानजी स्वामी ने 'क्रमबद्धपर्याय' नामक अमूल्य चिन्तामणिरत्न जैनसिद्धान्त-ग्रंथों के मंथन से प्राप्त कर सर्वसाधारण को भी सुलभ कर दिया। यद्यपि पहले स्वामी कार्तिकेय, समन्तभद्र व भैया भगवतीदास ने अपने साहित्य में इस मान्यता की पुष्टि की थी, किन्तु इसका जैसा प्रचार श्री कानजी स्वामी द्वारा हुआ वैसा पहले नहीं हो पाया था। कुछ लोगों ने इसका अन्य कारणों से विरोध किया, किन्तु उन्हें सर्वज्ञता या अवधिज्ञान के आधार पर इसे फलितार्थ के रूप में मानना ही पड़ता था, पड़ता है, और पड़ेगा।

★ पं० ज्ञानचन्द्रजी 'स्वतंत्र', शास्त्री, न्याय-काव्यतीर्थ, गंजबासौदा (म० प्र०)

पर्याय की क्रमबद्धता की स्वीकृति में कर्तृत्ववाद और अहम्‌वाद नहीं होता। स्व-चतुष्टय के अनुसार द्रव्य का परिणमन अनादिकाल से प्रवाहरूप में चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। इसे परिवर्तित करने का अधिकार किसी को नहीं है। जिसे क्रमबद्धपर्याय परिवर्तित करने का 'अहम्' है वे इस पुस्तक को मनोयोगपूर्वक समझने की दृष्टि से पढ़ें तो उनके अहम् का नशा अवश्य ही उतर जायेगा।

द्रव्य (जड़ और चेतन) का परिणमन मेरी इच्छानुसार हो, ऐसा जो भाव है, वही अगृहीत मिथ्यात्व है। जबतक द्रव्य के परिणमन की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार न किया जायगा तबतक अगृहीत मिथ्यात्व टल नहीं सकता।

डॉ० भारिल्लजी की भाषा परिमार्जित, साहित्यिक, सरल, सुबोध और भावात्मक तो है ही, साथ में प्रभावक भी है, जो पाठकों को अपनी ओर बरबस आकर्षित करती है। ऐसी रचना को सत्-साहित्य भी कहते हैं।

जो विद्वान् क्रमबद्धपर्याय से मतभेद रखते हैं उनके लिए तो विद्वान् भारिल्लजी की यह नूतन मौलिक रचना एक रामबाण औषधि की तरह काम देगी, ऐसा मैं मानता हूँ।

पहले पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री के जैनतत्त्व-मीमांसा व खानियाँ तत्त्वचर्चा में इसको जैनागम से सही सिद्ध किया था। इस पर अनेक प्रकार से ऊहापोह होता रहा है। इसलिए आवश्यकता थी कि इस सारे ऊहापोह को श्री कानजी स्वामी के मन्तव्यों के साथ सरल शैली व भाषा में प्रस्तुत किया जावे ताकि जनसाधारण भी इस तत्त्व को समझकर, राग-द्वेष छोड़

पर आगमप्रमाण के आधार पर ... । मुझे प्रसन्नता है कि डॉ० हुकमचन्दजी ने इस विषय पर सरल, सुबोध शैली व भाषा में शास्त्रीय-प्रमाणों सहित सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक क्रमबद्धपर्याय को सम्यक्रूप से समझने के जिज्ञासु, विवेकशील पाठकों के लिए लाभदायक होगी। पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने भी इसकी दस हजार प्रतियाँ प्रथम संस्करण में प्रकाशित कर श्री कानजी स्वामी के आगम-सम्मत मन्तव्यों के प्रचार में अनूठा योगदान दिया है।

प्रकाशित पुस्तक लेखन व प्रकाशन दोनों ही दृष्टियों से सर्वोत्तम रूप से मनमोहक बनी है। इसके लिए लेखक व प्रकाशक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

- **वाणीभूषण, प्रतिष्ठाचार्य पं० मुन्नालालजी शास्त्री 'कौशल', ललितपुर**

पुस्तक आद्योपान्त पढ़ी, बार-बार पढ़ने को जी चाहता है। ... विषय पर गंभीर दृष्टि डालने पर अपूर्व शान्ति मिलती है। इसकी यथार्थता से अपने रागोत्पादित ज्ञान में कल्पितता बुद्धि से जो उथल-पुथल होती है उसके विलय को बल मिलता है, मन से कर्तृत्वबुद्धि स्वतः दूर होती है।

इसके पढ़ने से पुरुषार्थ जगाने में मुझे बड़ा संबल मिला, दृष्टि गंभीर हो गई।

- **पं० पद्मकुमारजी भोरे, न्यायतीर्थ, कारंजा (महाराष्ट्र)**

अनेकान्त से सुव्यवस्थित विषय 'क्रमबद्धपर्याय' पर इस पुस्तक में स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। आपका प्रयास मुख्यतः निमित्त-उपादान के आधार पर क्रमबद्धपर्याय का समर्थन करता है। यह तो आपने सौ-बार स्पष्ट कर दिया ही है कि पर्यायों के क्रम का कर्ता केवलज्ञान नहीं है।

विषय की प्रतिपादन शैली प्रशंसनीय है। आगमप्रमाण उद्धरणों का सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण किया है। पुस्तक का मुद्रण, कागज, गेटअप आदि अति सुन्दर है।

- **पं० ...चन्दजी जैन 'कौशल' शास्त्री, न्यायतीर्थ, दिल्ली**

'क्रमबद्धपर्याय' सर्वांग ... विषय है। ... के ... विद्वत्तापूर्ण ... प्रस्तुत की है

★ श्री पांडे परमेष्ठीदासजी जैन, उज्जैन (म० प्र०)

'क्रमबद्धपर्याय' मैंने यह विषय समझ के परे समझकर छोड़ दिया था। उसमें सदैव यही जान पड़ा कि पुरुषार्थ को धक्का दिया जा रहा है। परन्तु जबसे इस विषय पर डॉ० भारिल्लजी के सम्पादकीय लेख पढ़े सब समझ में आने लगा। अब तो आगे पढ़ने की अभिलाषा बनी रहती है।

★ पं० श्री उत्तमचंदजी जैन एम० ए०, बी० एड० (तिरोडी म० प्र०)

'क्रमबद्धपर्याय' नामक कृति निश्चित ही अद्वितीय, गंभीर, सतर्क, सप्रमाण, सोदाहरण, सर्वजनग्राह्य एवं सर्वज्ञता का सचोट ढिंढ़ोरा पीटती प्रतीत होती है। इस ढिंढ़ोरे में ही क्रमबद्धपर्याय की सहज एवं स्पष्ट झलक ज्ञानगोचर होती है। आचार्य समन्तभद्र के युग में जरूरत थी सर्वज्ञता का डंका बजाने वाले की, जिसे स्वयं समन्तभद्राचार्य ने पूर्ण किया। पूज्य संत कानजीस्वामी के इस युग में आवश्यकता थी 'क्रमबद्धपर्याय' का नगाड़ा बजाने वाले की, जिसे डॉ० भारिल्ल साहब ने अपनी उक्त कृति द्वारा पूर्ण करने का सफल प्रयास किया है, जिसके लिए वे सदा तत्त्वान्वेषियों द्वारा धन्यवादार्ह रहेंगे।

★ श्री कमलकुमारजी जैन, इन्दौर (म० प्र०)

'क्रमबद्धपर्याय : एक अनुशीलन' के अन्तर्गत पूर्व के लेखों में अव्यवस्थितपना भी एक निश्चित व्यवस्थित-क्रम के अनुसार ही होता है, पढ़कर अतीव प्रसन्नता हुई। घटनाओं को तटस्थ रूप से देखने, समझने का बल मिलता है। कार्य होने या न होने का जो दोष पर-पदार्थों (चेतन या अचेतन निमित्तों) पर डालने की भ्रमित बुद्धि है, वह दूर होती है। क्रमबद्धपर्याय का चिन्तन राग-द्वेष से रहित ऐसे चैतन्यपुरुषार्थ को जगाता है जिससे कि प्रतिकूलता या अनुकूलता में, वैभव में या रंकपने में, निर्मल समता परिणाम पर्याय में अनुभव हो सके। मात्र अपने पदार्थ पर ही दृष्टि जाती है ठहरने के लिए। डर यही है कि 'क्रमबद्धपर्याय' को ठीक से न समझकर समाज इसे एकान्त नियतवाद न समझे।

★ डॉ० पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य, सागर (म० प्र०)

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने से द्रव्य परिणमनशील है। द्रव्य का यह परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान में झलकता है। यद्यपि द्रव्य का परिणमन द्रव्य

से स्वाधीन है और सर्वज्ञ के ज्ञान का परिणमन सर्वज्ञ के स्वाधीन है; तथापि यह निश्चित है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्येक द्रव्य की त्रिकालवर्ती पर्यायें झलक रही हैं, अतः सर्वज्ञता को स्वीकार करने वालों के सामने पर्याय की क्रमबद्धता स्वतः सिद्ध है।

पर्याय की क्रमबद्धता स्वीकार करने से न नियतिवाद का एकान्त आता है, और न पुरुषार्थवाद का अभाव होता है। नियतिवाद का अर्थ जहाँ अकर्मण्यता और स्वेच्छाचारिता है, वहाँ पर्याय की क्रमबद्धता का अर्थ कर्तृत्ववाद के अहंकार से दूर करता है। कार्य की सिद्धि जिस निमित्त और जिस प्रकार के पुरुषार्थ से होती है, वह उसी निमित्त और उसी पुरुषार्थ से होती है। सर्वज्ञ के ज्ञान में वह निमित्त और पुरुषार्थ का वह प्रकार भी झलकता है। विवाद वहाँ उपस्थित होता है जहाँ हम कार्य की अभिव्यक्ति सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार स्वीकार करते हैं और पुरुषार्थ को अपने [illegible] ज्ञान का विषय बनाते हैं।

[illegible] और अध्यात्म की चर्चा [illegible] और उदीरणा का [illegible] पुरुषार्थ का विषय है। जिस जीव के मोक्ष जाने का समय आ जाता है वह निमित्तादि के मिलने पर [illegible] का अनुभव होकर उसी पर्याय से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इत्यादि [illegible] के अनुसार पदार्थ का परिणमन नियतिवाद से बचा जा रहा है और पुरुषार्थवाद तक [illegible]। इसे [illegible] पुरुषार्थ है। पर्यायों की क्रमबद्धता सभी इष्ट है। मात्र विरोध के लिए विरोध करना उचित नहीं है।

श्री डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने 'क्रमबद्धपर्याय' के लिखने में जो श्रम किया है, उसकी मैं अनुमोदना करता हूँ।

• प्रो० हरिश्चन्द्रजी जैन, प्राध्यापक, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन

'क्रमबद्धपर्याय' [illegible] की एक महत्त्वपूर्ण [illegible] है, [illegible] के द्वारा [illegible] किया गया है। [illegible] का विस्तार [illegible] और [illegible] हुआ है। जैसे — [illegible], [illegible], निमित्त-उपादान एवं पुरुषार्थ, [illegible] और [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] [illegible], पुरुषार्थ, [illegible] तथा [illegible] आदि।

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल ने उपर्युक्त सभी बातों के माध्यम से क्रमबद्धपर्याय का जो सुन्दर, सयुक्तिक एवं प्रामाणिक विवेचन किया है, वह उनके सतत् ज्ञानाराधन एवं श्रमशीलता का निदर्शन है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि प्रवुद्धजन इस अमूल्य कृति से लाभान्वित होंगे। मैं डॉ० भारिल्लजी को उनकी इस महत्त्वपूर्ण रचना पर साधुवाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि वे निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान आदि विषयों पर भी इसी प्रकार पुस्तिकायें लिखकर समाज को लाभान्वित करेंगे।

★ **डॉ० देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री, व्याख्याता, शासकीय महाविद्यालय, नीमच**

डॉ० भारिल्लजी ने प्रस्तुत पुस्तक में तर्कप्रधान शैली में सभी अनुयोगों की दृष्टि से विस्तार के साथ सारगर्भित विवेचन किया है। जैनदर्शन व सर्वज्ञता की मूल प्रतिपत्ति को समझने के लिए पुस्तक सर्वथा उपयोगी है। आशा है सभी प्रकार के पाठक इससे लाभान्वित होंगे। इस सुन्दर व उपयोगी प्रकाशन के लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

★ **डॉ० राजेन्द्रजी बंसल, ओ० पी० मिल्स लिमिटेड, शहडोल (म० प्र०)**

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने क्रमवद्धपर्याय के महान सिद्धान्त पर आगम के आलोक में खुले दिल एवं दिमाग से चिन्तन-मनन किया। जिनवाणी के तत्सम्वन्धी बिखरे तथ्यों को समन्वित कर तर्क एव युक्ति से विश्लेषण किया और सारगर्भित किन्तु सहजग्राही निष्कर्ष निकाले; यह उनकी कुशल एवं सक्षम लेखनी का ही कमाल है, जिसके माध्यम से चारों अनुयोगों का हार्द सहज सरल भाषा एवं रोचक शैली में प्रकट हुआ है।

डॉ० साहब ने एक सफल शल्यचिकित्सक (सर्जन) के समान सर्वज्ञता, पुरुषार्थ एवं क्रमवद्धपर्याय के सिद्धान्त के अर्थ एवं उनके मध्य परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट कर यह सिद्ध कर दिया है कि जो पुरुषार्थ है वह स्व-स्वभाव में ही सम्भव है, परवस्तु में नहीं। और जो दृश्य-अदृश्य जगत में घटित हो रहा है, वह सब-कुछ क्रमव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध ही है, अन्यथा नहीं। 'क्रमबद्धपर्याय' के सिद्धान्त का क्या रहस्य है ? इस सिद्धान्त की मोक्षमार्ग एवं सांसारिक जीवन में क्या उपादेयता है ? उसकी श्रद्धा हेतु स्व-स्वभाव के सम्मुख कैसे हुआ जा सकता है – आदि विभिन्न विन्दुओं का विशुद्ध तर्कसंगत एवं सहजग्राही प्रतिपादन प्रस्तुत लेख में हुआ है। समग्ररूप से

डा. भारिल्लजी [illegible] की [illegible] क्रमबद्धपर्याय के [illegible] की [illegible] एवं [illegible] के [illegible] में [illegible] किए हुए हैं। इसका [illegible] है। [illegible] के [illegible] में [illegible] के [illegible] का समाधान भी [illegible] में प्रस्तुत कर दिया है।

• डॉ॰ पन्नालालजी अग्रवाल, भीलवाड़ा (राज॰)

सामान्यजनों के मस्तिष्क में क्रमबद्धपर्याय की जितनी जटिल [illegible] है [illegible] है। पुरुषार्थ एवं क्रमबद्धपर्याय का सुन्दर समायोजन डॉ॰ भारिल्ल की एक मौलिक [illegible] को प्रगट करता है कि भाग्य एवं पुरुषार्थ में अलगाव नहीं है।

• डॉ॰ भागचन्द्रजी जैन, अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय

डॉ॰ भारिल्ल जैनधर्म [illegible] के एक सुपरिचित [illegible] विद्वान हैं। 'क्रमबद्धपर्याय' जैसे दुरूह [illegible] विषय को सुबोध [illegible] सरल भाषा [illegible] में [illegible] है। [illegible] है। [illegible]

• डॉ॰ नरेन्द्र भानावत, प्राध्यापक, राज॰ विश्वविद्यालय; सम्पादक 'जिनवाणी'

इसप्रकार क्रमबद्धपर्याय की बात कहकर लेखक ने **वस्तु की अनन्त स्वतंत्रता की घोषणा की है।** लेखक की प्रतिपादन शैली तार्किक और गूढ़ होते हुए भी रोचक और सहज है। यही इसका वैशिष्ट्य है। यह पुस्तक विचार-क्षेत्र में चिन्तन के नये आयाम प्रस्तुत करती है।

★ डॉ० प्रेमचन्दजी रांवका, प्राध्यापक, राज० महाविद्यालय, मनोहरपुर (राज०)

डॉ० भारिल्लजी की नवीनतम कृति 'क्रमबद्धपर्याय' सम्यक्त्व के अनुशीलन में महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन करने वाली कृति है। इस कृति के माध्यम से पाठकों को दर्शनशास्त्र की एक मौलिक समस्या के समाधान में एक नया आयाम मिला है। इस अभिनव प्रकाशन के लिए डॉ० भारिल्ल साहब का अभिनन्दन।

★ डॉ० चन्दूभाई टी० कामदार, राजकोट (गुजरात)

प्रस्तुत कृति 'क्रमबद्धपर्याय' का मैंने अत्यन्त गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया। इस विषय को आपने मौलिक रूप में जिस सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है उसका अध्ययन करते हुए अत्यन्त आनन्द होता है। उसमें जो वस्तु-व्यवस्था की चर्चा की है; **"क्रमनियमित अवस्था यही वस्तु की व्यवस्था है।" केवलज्ञान के आधार से आगम और युक्ति द्वारा अनेक प्रकार से जो वस्तुस्वरूप सिद्ध किया है उसका गंभीरतापूर्वक विचार करने वाले को पर का और अपनी पर्याय का कर्त्तृत्व उड़ जाता है तथा अकर्त्तापने का स्वभाव-सम्मुख अनन्तपुरुषार्थ जागृत हुए बिना नहीं रहता।** यह तो भव-भ्रमण टालने का अमोघ उपाय आपने सुन्दर ढंग से बताया है।

इस सुन्दर कृति के लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद। ऐसा सुन्दर कार्य करते रहें – यही भावना है।

★ डॉ० कुलभूषण लोखंडे, एम०ए०, पीएच०डी०, संपादक दिव्यध्वनि, सोलापुर

........डॉ० भारिल्ल एक अध्यात्मचिंतक एवं सूक्ष्म विवेचक हैं। आपने इस ग्रंथ में क्रमबद्धपर्याय को लेकर समस्त जैन तत्त्वज्ञान का सागर क्रमबद्ध-पर्यायरूप गागर में भर दिया है।

मेरी यह धारणा है कि निःपक्ष भूमिका से और सही दिशा में श्रद्धा के साथ जिनाभ्यासु को इस पुस्तक द्वारा सही मार्गदर्शन होगा।........

• **डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी एवं श्रीमती डॉ० रमा जैन, छतरपुर (म० प्र०)**

क्रमबद्धपर्याय को एक उलझा हुआ अतः कठिनतम विषय मानकर लोग इसके अध्ययन से ही कतराते रहे हैं, मनन और चिन्तन का तब प्रश्न ही नहीं उठता। जैन समाज के स्वनामधन्य तत्त्वविवेचक डॉ० भारिल्लजी द्वारा अनेक महान ग्रन्थों का अध्ययन कर "नाना पुराण निगमागम सम्मतं यत्, रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि" के अनुसार भारिल्लजी की 'क्वचिदन्यतोऽपि' [illegible] शैली से क्रमबद्धपर्याय को बहुत सरल ढंग से समझाया है। वस्तुतः सर्वज्ञता प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय सर्वज्ञता का स्वरूप समझना है। जिस प्रकार जब तीर्थंकर किसी माँ के गर्भ में आते हैं, तो उनके पूर्व स्वप्नों में आते हैं; इसी प्रकार जिस आत्मा में सर्वज्ञता प्रगट होती है प्रगट होने के पूर्व वह समझ में आती है। सर्वज्ञता समझ में आये बिना प्राप्त नहीं की जा सकती है।

• **श्री अक्षयकुमारजी जैन, भूतपूर्व सम्पादक 'नवभारत टाइम्स', दिल्ली**

पुस्तक अत्यन्त उपयोगी, रोचक और ज्ञानवर्धक है। मेरी ओर से डॉ० भारिल्लजी को बधाई।

• **प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान श्री अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर (राजस्थान)**

वास्तव में डॉ० भारिल्लजी को इस विषय (क्रमबद्धपर्याय) का बहुत गम्भीर चिन्तन है। इससे उलझा-सा विषय स्पष्ट हो गया है। सर्वज्ञ के ज्ञान में जो भी आता है वह उसी प्रकार से हो के रहता है, अतः सभी पर्यायें निश्चित हैं, अन्यथा सर्वज्ञ का ज्ञान अन्यथा हो जाएगा। क्रमबद्धपर्याय की मान्यता से – जैसा कि भारिल्लजी ने लिखा है – बहुत बड़ी शान्ति मिल सकती है, समभाव रखा जा सकता है। अतः यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है।

• **प्रसिद्ध साहित्यकार श्री यशपालजी जैन, मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली**

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की लोकोपयोगी कृति 'क्रमबद्धपर्याय' पढ़कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। इस पुस्तक में उन्होंने एक ऐसे गूढ़ विषय पर अत्यन्त सरल, सुबोध, प्रामाणिक तथा युक्तिसंगत ढंग से प्रकाश डाला है जिसके बारे में अधिकांश जैन समाज अनभिज्ञ है – लेकिन जिसे जाने बिना कोई स्थायी शान्ति और वास्तविक सुख प्राप्त नहीं कर सकता। 'क्रमबद्धपर्याय' का अनुशीलन हमें जीवन की गहराइयों में ले जाकर उन

रत्नों को खोज निकालने की क्षमता प्रदान करता है – जो मानव जीवन को समृद्ध करते हैं, धन्य और कृतार्थ बनाते हैं। पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह **एक नई दृष्टि देती है और पूरी शक्ति से पुरुषार्थ करने को प्रेरित करती है।** ऐसी उत्तम रचना के लिए मैं लेखक को हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि यह पुस्तक जैन तथा जैनेतर समाजों में मनोयोगपूर्वक पढ़ी जावेगी।

★ प्रो० प्रवीणचन्द्रजी जैन, निदेशक, उच्च० अध्ययन अनुसंधान संस्थान, जयपुर

'क्रमबद्धपर्याय' एक समग्र दर्शन है। इसे समझने के लिए आस्थापूर्ण सूक्ष्मदृष्टि अपेक्षित है। यह दर्शन उसी को फलित होता है जो यह आस्था रखता है कि केवलज्ञानी को द्रव्य की त्रिकाल सत्ता का व उसकी समस्त पर्यायों का दर्शन होता है।

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल इस गहन दर्शन को इतनी सूक्ष्म विवेचना के साथ हिन्दी भाषी जिज्ञासुओं के सामने सम्भवतः पहली ही बार लाये हैं। उसका प्रतिपादन आगमसम्मत और सयुक्तिक होते हुए भी सरलता से ओतप्रोत है। वस्तुस्थिति को समझने और उसके द्वारा निराकुल भाव की उपलब्धि में इसका अध्ययन यथेष्ट रूप से सहायक होगा। इस रचना के प्रतिपाद्य तत्त्व को समझने से मानव **कर्तृत्व के अभिमान से मुक्त होकर अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वमुखी होता जायेगा।** वह कर्त्ता की स्थिति से हटकर ज्ञाता और दृष्टा की स्थिति को उपलब्ध होता जाएगा।

रचना की यह उपलब्धि असाधारण उपलब्धि है। मैं डॉ० भारिल्ल की इस बहुमूल्य कृति को सत्साहित्य में परिगणनीय समझता हूँ और इसी रूप में उसका स्वागत करता हूँ।

★ प्रो० खुशालचंदजी गोरावाला, प्रधान मंत्री, भा० दि० जैन संघ

'क्रमबद्धपर्याय' एक शाश्वत तथ्य है। क्योंकि जैनी-सर्वज्ञता ज्ञानीपरक है, ज्ञेयपरक या ज्ञेयाधीन नहीं। इसके लिए अनादि-अनन्त ज्ञेयों का सुनिश्चित होना अनिवार्य है। लौकिक ज्ञाता-ज्ञात शैली से सोचकर ही बहुत से विज्ञ भी इसमें नियतिवाद और तद्भव अकर्मण्यता की कल्पना कर बैठते हैं। किन्तु इसमें वस्तुस्वभाव या वस्तुस्वतंत्रता में कोई फर्क नहीं आता।

जगत में कोई भी परिवर्तन या पर्याय आकस्मिक नहीं है, वह सुनिश्चित है।

श्री कानजी स्वामी ने इस विषय से हमको परिचित कराया है। जिसका सांगोपांग स्पष्टीकरण प्रस्तुत प्रकाशन में लेखक द्वारा आगम-प्रमाण के परिप्रेक्ष्य में किया गया है, जिसे पढ़ लेने के पश्चात् कहीं भी कुछ अटकाव नहीं रह जाता है। इस विषय में जितनी भी शंकाएँ उठ सकती थीं, उन सब का इसमें समाधान मिल जाने से विषय सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जाता है। जिनको भी इस विषय में सत्य निर्णय करना हो, उन्हें इस ग्रंथ का अध्ययन-मनन विशेषरूप से करना चाहिए; क्योंकि इसमें बड़ी सूक्ष्मता से इस विषय का निरूपण है। – प्रकाशचन्द 'हितैषी'

★ **सन्मति-वाणी (मासिक), इन्दौर, मार्च १९८०**

डॉ० भारिल्ल अच्छे वक्ता एवं लेखक हैं। प्रस्तुत रचना उनकी वक्तृत्व शैली के अनुरूप प्रतीत होती है। इसमें अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों से प्रत्येक द्रव्य की पर्याय निश्चित क्रम से क्रमवार ही प्रगट होती है यह सिद्ध किया गया है। **क्रमबद्धपर्याय का प्रमुख आधार सर्वज्ञता बताया है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में त्रिकाल की पर्यायें सुनिश्चित क्रमवार वर्त्तमानवत् झलकती हैं जो नियत हैं।**..................लेखक का चिन्तन, अध्ययन और परिश्रम सराहनीय है। – संहितासूरि पं० नाथूलाल जैन शास्त्री

